भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियां और आधुनिकता - बोध

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में
एम. फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध - प्रबन्ध

शोध निर्देशक
प्रो. एस. पी. सुधेश

शोध छात्र
नवनीत सहाय बेदार

1998
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

20 जुलाई, 1998

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **श्री नवनीत सहाय बेदार** द्वारा प्रस्तुत **'भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियां और आधुनिकता-बोध'** शीर्षक लघु शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्व विद्यालय अथवा अन्य किसी विश्व विद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है। इनका यह कार्य सर्वथा मौलिक है।

प्रो. एस. पी. सुधेश
शोध निर्देशक 21.7.1998
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति
अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरु
विश्व विद्यालय
नई दिल्ली-110067

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति
अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरु
विश्व विद्यालय
नई दिल्ली-110067

पापा और दीदी को

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ
प्राक्कथन --	1
1. आधुनिक बोध की अवधारणा और हिन्दी कहानी	5
2. भुवनेश्वर प्रसाद और उनकी कहानियों का परिचय	27
3. भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में आधुनिकता बोध	49
4. आधुनिकता बोधः नई कहानी और भुवनेश्वर की कहानियां	90
उपसंहार	106
पुस्तकानुक्रमणिका	110

प्राक्कथन

''इंसान रोटी पर ही जिंदा नहीं : इस

सच्चाई को और किसने अपनी कड़ुई मुसकुराहट-

भरी भूख के अन्दर महसूस किया होगा

एक तपते पत्थर की तरह, भुवनेश्वर,

जितना कि तुमने !''

शमशेर बहादुर सिंह ने इन पंक्तियों को भुवनेश्वर को मृत मान लिए जाने पर लिखा। ये पंक्तियॉ दस्तावेज हैं उस त्रासदी की जिसे भुवनेश्वर ने आजीवन झेला। वे बाध्य हुए उस गुमनामी को सहने के लिए जो एक सामान्य आदमी को विक्षिप्त कर सकती है, संवेदन शील रचनाकार मानस की तो बात ही क्या !

आचार्य शुक्ल ने उन्हे अपने इतिहास में स्थान दिया। जबकि उन्होंने अभी लिखना शुरु ही किया था उनके महत्व को प्रेमचन्द ने भी समझा किन्तु परवर्ती आलोचक शायद भुवनेश्वर की रचनाओं की आंच सह न सके । आरोपों-प्रत्यारोपों ने उन्हें गुमनामी में, 'भ्रष्ट अघोरी साधक' की तरह जीने के लिए विवश कर दिया। रात भर रोने और जागने वाले रचनाकार की वह उद्विग्नता, आक्रोश, कठोरता और

निर्ममता उनकी अदम्य जिजीविषा का परिणाम है। खुद को भस्म कर रचना करने वाला यह रचनाकार भिखारी की मौत मरा। कहाँ ? किसी को पता नही!

भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में जीवन की 'सद्_ चित वेदना ' व्याप्त है। वहॉ जीवन के वीभत्स और कटुतम यथार्थ के उघड़े हुए रुप के साथ ही नवीन निर्माण की उत्कट अभिलाषा भी है।

यह लधु शोध-प्रबन्ध उनकी कुल जमा आठ प्राप्त कहानियों का आधुनिकता बोध की दृष्टि से मूल्यांकन प्रस्तुत करता है।

पहला अध्याय आधुनिकता की अवधारणा, उसका बोध और उसके तत्वों को व्याख्यायित करता है। साथ ही हिन्दी कहानी परम्परा में आधुनिकता बोध को भी रेखांकित करता है।

दूसरे अध्याय में भुवनेश्वर प्रसाद के रचना-संघर्ष और उनकी कहानियों का संक्षित परिचय दिया गया है।

तीसरे अध्याय में भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों का आधुनिकता बोध की दृष्टि से विश्लेषण परक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । यहाँ दिखाया गया है कि उनकी रचना दृष्टि किस तरह से अपने समकालीन व पूर्ववर्ती रचनाकारों से भेद स्थापित करती है।

चौथे अध्याय में नई कहानी के विकास में आधुनिकता बोध की भूमिका का आकलन करते हुए नई कहानी के प्रतिमानों के आधर पर भुवनेश्वर प्रसाद की कहानी 'भेड़िये' का परीक्षण किया गया है। इस अध्याय में सन् 1991 में 'हंस ' में प्रकाशित 'भेड़िए' नई कहानी की पहली कृति' नामक विवाद को भी सम्मिलित किया गया है।

इस कृति का उद्देश्य न तो भुवनेश्वर प्रसाद को महिमा मंण्डित करना है और न ही उन्हें पहला आधुनिक या नई कहानी लेखक सिद्ध करना, बल्कि उन्हें गुमनामी के अंधेरे से बाहर लाकर उनके इर्द गिर्द जमा धुंध को छांटना है जिसके चलते अक्सर महत्वपूर्ण रचनाकार हाशिए पर चले जाते हैं और कम महत्वपूर्ण रचनाकारों को प्रतिष्ठा मिलती है।

प्रो.मैनेजर पाण्डेय और डा.पुरुषोत्तम अग्रवाल का कृतज्ञ हूँ। उन्होंने भुवनेश्वर प्रसाद पर शोध करने की मेरी रुचि को सही दिशा निर्देश दिया। प्रोफेसर एस. पी. सुधेश ने सहृदयता से मार्ग दर्शन किया । उन्होंने समय-समय पर आने वाली समस्याओं को सुलझाया और अमूल्य परामर्श दिया । इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

पापा , बड़े भाई साहब , भाभी, दीदी , सुदीप भाई , ज्योति दी और अमित दादा , जिन्होंने मुश्किल क्षणों में मुझे सम्भाला और प्रोत्साहित किया । इस समय दिपेन और शिवम् को भूलना मेरे लिए असम्भव है।

सभी सहपाठियों -असीम , अरुण, अश्वनी, भरत, प्रेम,संजय,राममूर्ति और विवेक और अनुज आषीश का आभार व्यक्त करता हूँ। अक्सर इन सबके बीच बात-चीत में काफी चीजें स्पष्ट हुईं।

अन्त में उन सबका आभरी हूँ जिनके प्रयास से यह सम्भव हो पाया।

17 जुलाई 1998

नवनीत सहाय बेदार

१. आधुनिकता बोध की अवधारणा और हिन्दी कहानी

आधुनिकता बोध की अवधारणा

आधुनिकता या आधुनिकता -बोध पर कोई बहस तब तक सम्भव नहीं जब तक यह स्पष्ट न हो जाए कि हम आधुनिकता या आधुनिकता- बोध को किस रूप में देख रहे हैं , हमारा दृष्टिकोण क्या है ? मेरी दृष्टि में आधुनिकता एक सामाजिक प्रक्रिया है जो एक विशेष युग में उत्पन्न हुई और यह एक दृष्टिकोण भी है जो उस 'विशेष युग ' की परिस्थितियों और सन्दर्भों में उत्पन्न हुआ है । आधुनिकता , आधुनिक युग की वह विशिष्ट पहचान है जिसके कारण हम उसे मध्य युग से अलगा पाते हैं।

इस अध्याय में हम क्रमवार आधुनिकता के प्रारम्भ , उसके प्रेरक तत्वों, भारतीय संन्दर्भ में आधुनिकता के अर्थ , आधुनिकता बोध और हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का स्वरूप तथा आधुनिक हिन्दी कहानी के प्रारम्भ की चर्चा करेंगे । यूरोप में मध्ययुग की स्थापित जड़ व्यवस्था को अस्वीकार कर मनुष्य जिस प्रेरणा से गतिशील बना वह प्रेरणा से गतिशील बना वह प्रेरणा पुनर्जागरण है । इस पुनर्जागरण के काल में बौद्धिक कान्ति हुई , जीवन को देखने का दृष्टिकोण

बदला। तर्क और विवेक की कसौटी पर हर चीज को कसा जाने लगा। मनुष्य ने कसी भी उस वस्तु और स्थिति को अस्वीकार कर दिया जो किसी रूढ़ या जड़ धारणा से जुड़ी थी। सारांशतः मनुष्य प्रबुद्ध हुआ और प्रबुद्धता की यह स्थिति ही पुनर्जागरण है।

इस पुनर्जागरण से मनुष्य का भाव-बोध बदला। नवीन भाव-बोध मध्ययुगीन भाव-बोध से नितांत भिन्न था। पुनर्जागरण से पूर्व, मानव जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर धर्म का एकाधिकार था। जीवन के सारे मूल्य धर्म से जुड़े थे। जीवन निश्चित ढर्रे पर चलता था, कोई बदलाव या परिवर्तन उस दायरे में सम्भव नहीं था। इन परिस्थितियों में जीवन लगभग जड़ सा हो गया था कहीं भी कोई नयापन या गतिशीलता सम्भव नहीं रह गई थी। पुनर्जागरण से इस स्थिति में अन्तर आया। यहीं से आधुनिक युग की शुरूआत हुई। मनुष्य ने एक नये युग में पदार्पण किया। उसके भाव-बोध में परिवर्तन हुआ। धर्मवीर भारती ने लिखा है कि शायद कोई भी युग अपने आधुनिक होने के प्रति इतना सचेत नहीं था जितना कि आधुनिक युग।

मध्ययुगीन दृष्टि, चिंतन, भाव भूमि तथा विश्वासों का आधार धर्म था। जीवन के प्रत्येक मानदण्ड का स्रोत किसी पारलौकिक सत्ता से जुड़ा था। विज्ञान के

विकास के साथ- साथ यह विश्वास क्षीण हुआ । धर्म की, सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना अवैज्ञानिक सिद्ध हुई । मानव जीवन के केन्द्र से धर्म का स्थान विज्ञान लेने लगा । मनुष्य को लगा कि सृष्टि के अपने नियम हैं और वह उन्हीं नियमों के अनुसार चलती है । इसी तरह उसका अपना जीवन भी किसी पारलौकिक सत्ता के बगैर भी चल सकता है । यह ऐसा आग्रह था जिसने मध्ययुगीन भावबोध को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया । मनुष्य धर्म से मुक्त हो गया । उसने स्वीकार किया कि समाज अपने बनाए नियमों के आधार पर चलता है, जो परिवर्तनशील हैं, उसमें किसी पारलौकिक सत्ता का कोई हस्तक्षेप नहीं है । विज्ञान ने विश्वास के बजाए परीक्षण ,श्रद्धा के बजाए तर्क, आस्था के बजाए विश्लेषण पर बल दिया । परिणामतः मनुष्य की चेतना में आधार-भूत परिवर्तन हुआ । सृष्टि के निर्माण के भौतिक नियमों की खोज प्रारम्भ हुई । मानव नियति को जानने के लिए जैविक और ऐतिहासिक विकास के यान्त्रिक नियम खोजे गये । प्रकृति को मानव जाति के अनुकूल बनाने का प्रयास किया गया । मानव को ही केन्द्र में लाकर सारी चीजें देखी- परखी जाने लगीं ।

विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रोंमें नवीनतम खोजें हुई । कॉपरनिकस ने सप्रमाण सिद्ध किया कि सूर्य नहीं वरन् पृथ्वी व अन्य ग्रह सूर्य के गिर्द चक्कर लगाते हैं ।

गैलीलियो पहले ही पृथ्वी को चपटे के बजाए गोल बता चुका था । इसी तरह जैविक सिद्धान्त खोजे गये, रासायनिक तत्वों की खोज हुई,भौतिक नियमोंका प्रतिपादन किया गया । कुल मिलाकर 16 वीं , 17 वीं शती में विज्ञान ने काफी तीव्र गति से विकास किया और आधुनिक चेतना को दृढ़ आधार प्रदान किया ।

इस सबके साथ -साथ आधुनिक चेतना के निर्माण में फ्रेंच राज्य क्रान्ति , रुसी क्रान्ति , बौद्धिक क्रान्ति तथा औद्यौगिक क्रान्ति ने बहुत बड़ा योगदान दिया । फ्रान्स की राज्य क्रान्ति, फ्रांस तक सीमित न रहकर विश्व भर के लिए मानव स्वतन्त्रता और सभ्यता का संदेश बनी । इस क्रान्ति ने सिद्ध किया कि 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है लेकिन वह हर जगह बेड़ियों में जकड़ा हुआ है '। (रुसो) इस क्रान्ति के बाद ही यूरोप में बौद्धिक क्रान्ति भी हुई । सामाजिक संघटन के अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गये । हेगेल, मिल, रुसो , मार्क्स , ऐंगेल्स आदि ने सामाजिक संरचना के अनेकानेक सिद्धांत प्रतिपादित किए और राजशाही के विपरीत प्रजातान्त्रिक मूल्यों की स्थापना की ।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद यूरोप में पनपे उपनिवेशवाद ने बाजार और उद्योग को बढ़ावा दिया जिससे यूरोप में औद्योगिक क्रांति हुई । औद्योगिक क्रांति ने मनुष्य के लिए नई- नई दिशायें खोजी और छोटे-छोटे उद्योगों के साथ बड़े

कारखाने मिलें लगीं । कपड़ा, मसालों आदि का अंर्तराष्ट्रीय , औपनिवेशिक बाजार बना । इसके चलते उत्पादन और उपभोक्ता के संबन्ध स्पष्ट हुए । पूंजी अपनी केन्द्रीय स्थिति की ओर बढ़ने लगी । औद्योगीकरण के साथ -साथ नगरीकरण की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई । नगरों का विकास हुआ । औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रियाओं को संयुक्त रुप से आधुनिकीकरण कहा जा सकता है । आधुनिकीकरण -वह प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य परम्परागत जीवन पद्धति को छोड़कर यान्त्रिक और गतिशील पद्धतियों को अपनाता है।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया में ही उत्पादक और उपभोक्ता के सम्बन्ध तो स्पष्ट हुए ही साथ- साथ श्रमिक और पूंजीपति के सम्बन्ध भी स्पष्ट हुए। रुसी क्रान्ति ने रुढ़ि बद्ध समाज में एक नई स्फूर्ति पैदा की और समाजवाद तथा साम्यवाद का नारा विश्व भर में श्रमिकों के लिए स्वप्न बनकर उभरा । ज़ारशाही में जो आर्थिक विषमतायें उभरकर आयीं थीं वे समाप्त हुई और वर्ग विहीन समाज का संदेश मानवता को मिला। रुस की यह क्रान्ति वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न आधुनिक चेतना की ही उपज थी।

इन दो राज्य क्रान्तियों व औद्योगिक क्रान्ति के अतिरिक्त विश्व युद्धों ने भी मनुष्य की चेतना को प्रभावित किया । औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञान के विकास से

सामाजिक जीवन में गतिशीलता आयी और उपनिवेशवादी साम्राज्यों और बाजार की होड़ ने यूरोप को विश्व युद्ध के समक्ष ला खड़ा किया। प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका ने मनुष्य को भीतर तक हिला दिया । भय, आतंक और अनिश्चितता के इस दौर ने मानव जाति को वैज्ञानिक विकास के पुनरीक्षण के लिए प्रेरित किया । लेकिन यह दौर ऐसा था कि उपनिवेशवादी ताकतें अपने अस्तित्व के लिए आपस में भी जूझ रही थीं । हम एक विश्व युद्ध के भीषण परिणामों से उबर भी नहीं पाए थे कि दूसरे विश्व युद्ध ने और भी भयंकर परिणाम प्रस्तुत किए । अणु बम ने सृष्टि के लिए ही खतरा उत्पन्न कर दिया । ऐसी अनिश्चय और आतंक की स्थिति में ही अस्तित्ववादी दर्शन उभरा और मानव नियति का सवाल फिर खड़ा हुआ । किर्केगार्द, नीत्शे, यास्पर्स, कामू , हेडेगर आदि दार्शनिकों ने इस सवाल का सामना किया ।

दोनों विश्व युद्धों का युग वह युग था जब मानव अपने द्वारा ही ईजाद की गई मशीनों में फंस कर खुद ही एक मशीन बन गया था । इन मशीनों के कारण ही आदमी और आदमी के बीच का रिश्ता खत्म सा हो गया और आदमी मशीनों का दास हो गया था । मानव कटा हुआ सा बेसहारा महसूस करने लगा था । साहित्य , दर्शन , संगीत, चित्रकला सभी शिल्प बनते जा रहे थे । उनके भीतर की आत्मा

मरने सी लगी । ऐसे समय में मानवीय सम्बन्धों , पारिवारिक रिश्तों और इस प्रकार की समस्त संस्थाओं को पुनर्परिभाषित करने की जरूरत महसूस होने लगी।

हमारा देश उन्नीसवीं सदी में ही यूरोप की राजशक्ति और संस्कृति के सम्पर्क में आया। उससे पूर्व यूरोप की विभिन्न राजशक्तियाँ भारत में अपनी जड़ें जमाने की प्रतिद्वन्द्विता में लगी थीं । इससे पूर्व ही हमारा बौद्धिक वर्ग सांस्कृतिक रुप से निष्क्रियता के उस स्तर पर पंहुच गया था जहां जुगाली करना ही परम लक्ष्य माना जाने लगा था। ऐसे में पश्चिमी संपर्क के बाद हमारे देश में पुनर्जागरण का प्रारम्भ होता है। इस समय तक यूरोपीय संस्कृति आधुनिकता के नये सन्दर्भों से जुड़ती जा रही थी । उदार शिक्षा, मानववादी दृष्टि, प्रजातान्त्रिक प्रणाली, और समता आदि सिद्धान्तों के साथ साथ वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति भी यूरोप में हो रही थी । भरतीय मानस में भी यूरोपीय संस्कारों का प्रचलन बढ़ने लगा । अंग्रेजों के लिए भारत एक बड़ा बाजार था। यहाँ जमने के लिए उन्होंने यहाँ के उत्पादनऔर उपभोक्ता सम्बन्धों को अपनी संस्कृति के अनुसार ढालने का प्रयासकिया। भारतीय उच्चवर्ग ने , जो पाश्चात्य संस्कृति और शिक्षा से प्रभावित और चमत्कृत था, बेहिचक उस संस्कृति को स्वीकार कर लिया । अंग्रेजों की

भाषा-नीति से यह स्पष्ट है कि वे भारत पर अपना प्रभुत्व येन- केन- प्रकारेण बनाए रखना चाहते थे। यूरोपीय संस्कृति के संघात के कारण भारतीय बौद्धिक वर्ग दो भागो में बंट गया । एक वर्ग ,जो पाश्चात्य संस्कृति से आश्चर्य चकित था, उसे अपनाने में ही अपना विकास देख रहा था दूसरा वर्ग उसके घोर विरोधी के रुप में सामने आया तथा उसने पाश्चात्य संस्कृति को चुनौती के रुप में स्वीकार किया । यह दूसरा वर्ग पाश्चात्य संस्कृति से आक्रान्त होनेके कारण देश के आधुनिकीकरण की सही दिशा तय नहीं कर पा रहा था । कभी तो वह आश्चर्य भाव से यूरोप की ओर देख रहा था तो कभी भारतीय संस्कृति में उसके बरअक्स कुछ खोजने का प्रयास कर रहा था । लेकिन अंग्रेजों की राजनीति और आधुनिकीकरण की इच्छा के कारण वे कुछ भी प्रभावी नहीं कर पाए ।

भारतीय जीवन की यह विशेषता रही है कि यहाँ ग्रहण सर्वव्यापी रहा है, पर त्यागने में कोई निर्ममता नहीं बरती गयी । सब कुछ लिया जाता रहा ,एकत्रित होता रहा । भारतीय जीवन की इस ग्रहण -वृत्ति के कारण अधिकतर बुद्धि जीवी वर्ग एक ओर तो आधुनिकता को पश्चिमी संस्कृति के साथ ग्रहण करता है तो दूसरी ओर अपने परम्परागत रूढ़ संस्कारों का त्याग भी नहीं कर पाता । ऐसी स्थिति में भारतीय बुद्धिजीवी अनेक विरोधाभासों में जीने का आदी हो गया है।

उसने आधुनिकता को अपने रीति रिवाजों,के साथ इस तरह रवपा लिया है कि उपरी तौर पर कोई विसंगतिका बोध नही होता।

वस्तुतः प्रगति या विकास एक सम्पूर्ण चेष्टा है। ऐसा नहीं होता कि हमारे जीवन का बाहरी स्वरुप बदल जाए और जीवनगत मूल्य किसी अन्य स्तर पर संघटित होते रहें। पाश्चात्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने अपनी गतिशीलता तथा सर्जनशीलता से देश के व्यापक और समग्र जीवन को प्रभावित किया और इस प्रकिया ने सभी क्षेत्रों तथा स्तरों को गतिशील बनाने का प्रयास किया।

लेकिन इसका व्यापक प्रभाव भारत में नहीं हो पाया। ऐसा इसलिए भी हो सकता है कि भारत में यह आधुनिकता सिर्फ शिक्षित जनता तक ही अपनी पंहुच रखती है। इसका एक अन्य कारण यह भी है, कि यह आधुनिकता भारतीय संदर्भो और परिस्थितियों में पैदा नहीं हुई बल्कि यूरोप से आयातित सी प्रतीत होती है। भारतीय ग्रहण-वृत्ति ने इसे ग्रहण तो कर लिया लेकिन आत्मासात् नही कर पायी। यदि आधुनिकीकरण की यह प्रक्रिया यहाँ के संघर्षो का प्रतिफलन होती तो स्वरूप शायद कुछ और ही होता।

प्रथम विश्व युद्ध में भारत की जबरन भागीदारी के कारण भारत की आम जनता भी यूरोपीय संस्कृति से सीधे सम्पर्क स्थापित कर सकी। यूरोपीय भूमि पर

भारतीय सैनिक वहॉ की संस्कृति और विकास को महसूस कर रहे थे। भारत वापसी पर उन्होंने भी आंशिक रूप से उसे स्वीकारना शुरू कर दिया।

आधुनिक चेतना की जिस विकास यात्रा की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं, उन्हीं परिस्थितियों के परिपक्व होने के युग में आधुनिकता-बोध उत्पन्न होता है। साहित्य में उसकी स्पष्ट झलक मिलती है। यह आधुनिकता बोध जीवन के दबावों, संघर्षों, सोच, चिंतन और सामाजिक संरचना में उत्पन्न दृष्टिकोण है। जिसे आधुनिक चेता मनुष्य ने अपनी सामाजिक संरचना, उसमें होने वाले परिवर्तन और उसकी ऐतिहासिकता को समझते हुए अर्जित किया है। आधुनिकता -बोध को समाजशास्त्री स्टुअर्ट हाल ने इस तरह व्याख्यायित किया है। '' इसकी विनिर्मिति विभिन्न ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के संयोजन से होती है और यह संयोजन विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों मैं होता है। ये प्रक्रियाएं राजनैतिक (धर्म निरपेक्ष राज्य और राजनीति का उदय), आर्थिक (भूमण्डलीय पूंजीवादी अर्थतन्त्र का उदय सामाजिक वर्गों का निर्माण और लिंग पर आधारित श्रम विभाजन) और सांस्कृतिक (धार्मिक से धर्म निरपेक्ष संस्कृति की ओर

विचलन) आदि हैं। कहा जा सकता है कि आधुनिकता बोध इन सभी प्रक्रियाओं की सामूहिक उत्पति है।"

उक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि आधुनिकता के निर्माण में ऐतिहासिकता का महत्वपूर्ण योगदान है। इस निर्माण प्रक्रिया में ऐतिहासिकता महत्वपूर्ण अंश होते हुए भी आधुनिकता से पृथक होती है। क्योंकि आधुनिकता के निर्माण में एक हिस्सा अतीत से, उस परम्परा से जुड़ा रहता है, जिसमें उसका निर्माण हुआ है, और दूसरा हिस्सा अपने वर्तमान में निर्मित होता है। आधुनिकता दर असल यह दूसरा हिस्सा ही है, यही महत्वपूर्ण भी है। जो हिस्सा अतीत या परम्परा से जुड़ा होता है अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता। वह सिर्फ मेज के निर्माण में लगी लकड़ी द्वारा पेड़ की याद दिलाता है। वास्तविक निर्मिति मेज ही होती है।

आधुनिकता की प्रकृति सूक्ष्म है। इसलिए बेहतर है कि हम उपस्थित प्रभावों का इकाइयों के रूप में अध्ययन करें।

समय बोध आधुनिकता का एक महत्वपूर्ण पहलू है। आधुनिक मनुष्य के लिए अपने समय का बोध अत्यन्त आवश्यक है। सी. जी. युग का कथन है कि "यह स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए कि सिर्फ वर्तमान में रहने भर से कोई आधुनिक नहीं हो जाएगा। ऐसा होने पर वर्तमान में जीवित सभी लोग आधुनिक

हो जाएंगे। केवल वही व्यक्ति आधुनिक है जो वर्तमान के प्रति पूर्ण रूप से सजग है"[२] अक्सर समय बोध को 'समकालीनता' या 'समसामयिकता'से भी जोड़ कर देखा जाता है जो गलत है। समय बोध यद्यपि उपरी तौर पर समय प्रतीत होता है लेकिन आधुनिकता के सन्दर्भ में 'समय बोध' वर्तमान का बोध है, जो मनुष्य को अपने वर्तमान यथार्थ से जोड़ता है। समय बोध के कारण ही किसी देश - काल में परिवर्तनकामी प्रवृत्तियां उत्पन्न होती है।

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने जहाँ एक ओर मनुष्य की सुख सुविधाएं जुटाई हैं उसमें विकास के असंख्य द्वार खोले है, वहीं दूसरी ओर इस विकास की प्रक्रिया ने मनुष्य को ही मशीन बना डाला है। इस कारण उसमें मानवीय सम्बन्धों, सामाजिक सस्थाओं के प्रति वितृष्णा सी हो गई है। उसमें अकेलापन, अजनबीपन, औपचारिकता और यान्त्रिकता जैसी स्थितियां उत्पन्न हुई हैं।

तार्किकता वैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम है और यह भावुकता की विरोधी है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में मनुष्य ने भावुकता के बजाए तार्किकता को तरजीह दी है जिसके चलते वह निर्मम 'स्व' के रूप में उभरा है। उसका रुमानियत या रागात्मकता से कोई संबंध नही रह गया है। अ-रागात्मकता की चरम परिणति, पारिवारिक इकाई का विखंडन है।[३]

'व्यक्ति ' का निर्माण आधुनिक युग की ही उपलब्धि है। ' व्यक्ति ' आधुनिक युग की एक महत्वपूर्ण इकाई है। व्यक्ति के साथ ही उसके 'स्व ' की स्वीकृति : उसकी सामर्थ्य और अस्तित्व की पहचान जरूरी हो जाती है। व्यक्ति की यह पहचान तब उत्पन्न हुई जब मनुष्य अपने सब किये का स्वयं जिम्मेदार बन गया। उसका अस्तित्व किसी दैवीय सत्ता या राजतन्त्र के पराधीन नहीं रह गया। आधुनिकता बोध का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है।

समाज के साथ - साथ साहित्य की विधाओं के स्वरुप में भी परिवर्तन होता है। कविता , नाटक , उपन्यास सभी का स्वरुप बदला है। विधाओं में यह परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के सापेक्ष होता है आधुनिक युग में भी यह परिर्वतन हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यूं तो आधुनिक युग का प्रारम्भ भारतेन्दु काल से माना जाता है। लेकिन हिन्दी साहित्य में आधुनिता-बोध की विधिवत् शुरुआत 30 - 40 के दशक से मानी जानी चाहिए क्योंकि इससे पूर्व की कविता, कहानी, उपन्यास व अन्य विधायें विवेचित आधुनिकता के दायरे में नही आती । अधिकांश आलोचकों ने 'कफन' को पहली आधुनिक कहानी तथा 'गोदान' को पहला आधुनिक उपन्यास माना है। इस दौर तक आते आते समाज की समस्यायें कुछ - कुछ बदलने लगीं थीं। इस युग में जीवन परिस्थितियाँ तेजी से बदल रहीं

थीं। भारत में ही नहीं, सारे विश्व का राजनैतिक आर्थिक तथा सामाजिक स्वरुप बदल रहा था। ज्ञान और कला कास्वरुप भी राष्ट्रीय सेअंर्तराष्ट्रीय हो रहा था। मनुष्य की अस्तित्व सुरक्षा और जीवन के प्रति अनिश्चय के सवाल उठ रहे थे। बाहर से अस्तित्ववादी और मार्क्सवादी दर्शन भी कला को पर्याप्त रुप से प्रभावित कर रहे थे।[7]

आधुनिक रचनाकार के लिए **उद्देश्य** आवश्यक नहीं होता। उसकी मान्यता है कि उद्देश्य के प्रति पूर्व सजगता किसी शिल्प को जन्म दे सकती है कलाकृति को नही। आधुनिक रचनाकार अपनी रचना प्रकिया के प्रति सजग है, लक्ष्य या अन्त के प्रति नहीं। लक्ष्य या उद्देश्य रचना प्रकिया में ही उभर कर सामने आता है। उद्देश्य के प्रति पूर्व सजग न होने के कारण आधुनिक रचनाकार पर ध्येयहीन होने का भी आरोप है, लेकिन उसकी यह ध्येयहीनता ही कला कृति को जन्म दे पाती है, यह भी सच है।[8]

आधुनिक रचनाकार की मुख्य समस्या **अभिव्यक्ति** की है। उद्देश्य, विषय-वस्तु की नहीं। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में चीजें इतनी जटिल हो जाती है कि भाषा मे उतार पाना लेखक या रचनाकार के लिए एक समस्या बन जाती है। अभिव्यक्ति के लिए सार्थक औजार रचनाकार स्वयं खोजता है। रचनाकार ये

औजार अपने युग -सन्दर्भों से ही एकत्र करता है। आधुनिक रचनाकार किसी भी तरह की सजावट के खिलाफ है। वह स्पष्टवादिता में विश्वास करता है। सजावट का यह विरोध रचनाकार को भाषाई मितव्ययता की ओर ले जाता है जिससे रचनाएं सादी तो रहती ही हैं साथ में संक्षिप्त और दुर्भेद्य भी हो जाती है।

आधुनिक रचनाकार **अमूर्तन** का मार्ग अपनाता है। वह अमूर्तन का प्रयोग इसलिए करता है क्यों कि जिस यथार्थ को वह पकड़ना चाहता है, अभिव्यक्त करना चाहता है उसकी गतिशीलता और जटिलता को व्यक्त करने के लिए, उसकी सहजतम अभिव्यक्ति अमूर्तन का प्रयोग कृति को भावात्मक जटिलता की ओर ले जाता है जबकि आधुनिक रचनाकार जटिलतर जीवन स्थितियों, यथार्थ को सहजतर बनाने के लिए अमूर्तन का प्रयोग करते हैं। दोनों के अमूर्तन के स्रोत भी अलग है। छायावादी रचनाकार अमूर्तन के लिए कल्पना लोक का सहारा लेते हैं तो दूसरी ओर आधुनिक रचनाकार अमूर्तन के लिए यथार्थ का सहारा लेता है। आधुनिक रचनाकार की सर्जनशीलता मूल्य- सापेक्ष नही है। रचना और रचनाकार की यह मूल्य-निरपेक्षता आधुनिक दृष्टि का ही परिणाम है।

आधुनिक रचनाकार की दृष्टि में एक ही मूल्य है - वह है **रचना प्रकिया की निरंतरता**। इसी कारण वह किन्हीं मूल्यों को निरूपित करने की अपेक्षा उनके

बोध व अनुभव को महत्व देता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि साहित्य में आधुनिकता , यथार्थ की नकल करने के बजाय उसके प्रकट होने की प्रकिया की खोज है। दूसरे शब्दों में आधुनिक रचनाकार यथार्थ का निरूपण न करके उसको अपनी रचना प्रकिया में ही उत्पन्न करने का प्रयास करता है।

हिन्दी कहानी में आधुनिकता बोध

हिन्दी कहानी का अपना इतिहास अधिक पुराना नहीं है। बीसवीं शदी के प्रारम्भ के साथ ही हिन्दी कहानी की शुरुआत मानी जाती है और 'परिपक्व कहानी की परम्परा गुलेरी जी की 'उसने कहा था' (1915) से शुरु होती है। यह युग स्वतन्त्रता आन्दोलन युग था। 'उसने कहा था' के प्रकाशन के साथ ही प्रेमचन्द का युग भी प्रारम्भ होता है जिसमें छायावादी रुझान के साथ साथ स्वतन्त्रता आन्दोलन का राष्ट्रवादी स्वर और गांधी के आदर्शवाद की झलक मिलती है। इस युग के रचनाकारों में सिर्फ प्रेमचन्द अपने समय की सीमाओं को तोड़कर बाहर आ सके। आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रारम्भ 'कफन' से माना जाता है। 'कफन' पहली कहानी है जिसमें तीखे और विद्रूप यथार्थ को चित्रित किया गया है। यह मनुष्य के परिस्थितिवश अमानवीकृत होने की कहानी है। प्रेमचन्द के समकालीन कहानी कार चाहें वे सुदर्शन हों या कौशिक या कोई अन्य , कोई भी 'कहानी' को कफ़न के

स्तर तक नहीं उठा पाया। प्रेमचन्द ने भी कहानी की अन्तर्वस्तु में बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया था लेकिन उसके परम्परा गत रुप में वे कोई परिवर्तन नहीं कर सके।

प्रेमचन्द के बाद के रचनाकारें जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय के यहॉ भी यही समस्या है। यशपाल ने कहानी को अपनी वैचारिक पृष्ठ भूमि के अनुरूप बनाया। मान्यताएं बदलीं, सामाजिक यथार्थ को तरजीह दी, ''सामाजिक यथार्थ के उपर पड़ी परत काटने के लिए उन्होने प्रतीक निर्मित किए, जिनमें अर्थवत्ता तो थी लेकिन देह और प्राण शक्ति पर कल्पना हावी होती गई। पात्र और परिस्थितियाँ मानी हुई और नकली होने लगीं क्योंकि यशपाल की दृष्टि जीवन के बदलते हुये यथार्थ से नही वरन उस पठार से ही टकरती रही जिसे उन्होंने मनुष्य के यथार्थवादी बोध के मार्ग में बाधक के रूपमें स्वीकार किया था।''[5] परिणामतः यशापाल ने प्रकट रूप से जीवन की जिन समस्याओं का चुनाव किया वे प्रगतिशील थीं लेकिन उनसे कहानी की मूल प्रकृति पर कोई प्रभाव नही पड़ा। ''कल्पना की देह पर जहाँ आर्दश की सफेद टोपी थी वहीं अब लाल कर दी गई।''[6] आदर्शवादियों के साथ छायावादी कल्पनाओं के नकली कथानकों के मेल से कहानी पारम्परिक - भावुकता पूर्ण सम्बन्धों का शोषण कर एक भीगा वातावरण प्रस्तुत करने में तो

DISS
0,152,3,N101;9
152 N8
TH-7434

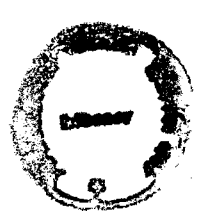

समर्थ हो सकी लेकिन जीवन की विषमताओं में उभरने वाले यथार्थ चरित्रों की सृष्टि उसमें सम्भव न रह सकी।

जैनेन्द्र के साथ भी कमोबेश यही दिक्कत है। वे पुराने पैटर्न पर ही नये बोध को सम्प्रेषित करना चाहते हैं। 'नीलम देश की राजकन्या' का 'नीलम देश' उनके कल्पना लोक का देश है जो उक्त कहानी के राजकुमार की ही भांति ''नही'' में भी है'। जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में 'होने' की वास्तविकता को भी भ्रम के ही रूप में चित्रित किया है। उनकी कहानियों में चिंतन प्रणाली ही हावी रहती है जिसमें वे जीवन के प्रति संशय ही व्यक्त करते हैं जो कहानी को गढ़ी गई परिस्थितियों और काल्पनिक चरित्रों का एक पुंज बना देता है। '' जीवन दर्शन की निर्जीव सूत्रात्मकता को एक सीमा तक ही कल्पना द्वारा जामा पहनाया जा सकता है। जैनेन्द्र की कहानियों में सीमा स्पष्ट दिखती है। इसके बाद वे रचना प्रकिया में एक सेट चरित्र और एक सेट घटनाओं और सीमित सम्वेदनाओं का चित्र बन कर रह जाता है।''[७] 'पाजेब' और ' अपना पराया' इसके सटीक उदाहरण है।

जैनेन्द्र के बारे में कहा जाता है कि वे मानव मन की भावनाओं को केन्द्र में रख कर कहानी बुनते हैं। उनकी मान्यता मनोविदों की यह धारणा है कि व्यक्ति की समस्त क्रियाओं का उत्स 'अंह' है। इसी मनोविश्लेषण की प्रक्रिया में वे सेक्स जैसे

वर्जित विषयों पर भी बेबाकी से लिखते हैं और उसे सामाजिक स्वीकृति भी प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में काम भावना वह केन्द्र है जहां व्यक्ति का 'अहं' विसर्जित हो जाता है और व्यक्ति मानवीय क्षुद्रता को त्याग कर आत्म तुष्टि तक पंहुचता है। लेकिन जैनेन्द्र का यह फार्मूला कहानी के कथ्य तक ही सीमित रहता है उसके रुप पर उस का प्रभाव न्यूनतम है। तथापि आधुनिक हिन्दी कहानी की विकास यात्रा में जैनेन्द्र का महत्तवपूर्ण स्थान हैं । उन्होंने कहानी के कथ्य को कमोबेश प्रतीकात्मकता और आधुनिक भाव बोध के निकट लाने में योग दिया ।

जैनेन्द्र की भांति अज्ञेय ने भी व्यक्ति के आत्म को कहानी का विषय बनाया, लेकिन जैनेन्द्र की भांति उसका उपयोग नहीं किया । अज्ञेय, कहनी में एक ओर निज की अनुभूति को महत्व देते हैं तो दूसरी ओर यथार्थ को भी उतना ही महत्वपूर्ण मानते हैं । 'रोज़' कहानी में भोगा हुआ यथार्थ और निज की अनुभूति दोनों ही गुंफित हैं । यहाँ वे जैनेन्द्र से एक कदम और आगे हैं । वे अपने कथानक को बदलने का आंशिक रूप से सफल प्रायस करते हैं। भाषा के स्तर पर भी वे नयेपन का आभास देते हैं।

उक्त महत्वपूर्ण कहानी कारों के साथ लम्बी परम्परा है जिसमें इलाचन्द्र जोशी , राहुल सांकृत्यायन और राम कुमार वर्मा प्रभृति रचना कार हैं और आगे की परम्परा

भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा आदि कहानीकारों से बढ़ती है। लेकिन इस सब के बीच एक और महत्वपूर्ण नाम है जो कि लगभग भुला दिया गया है - भुवनेश्वर प्रसाद।

कहानीकार भुवनेश्वर प्रसाद को बहुत कम लोग जानते हैं जबकि आधुनिकता-बोध की एक गहरी पकड़ उनकी कहानियों में मिलती है। 'मौसी', 'हाय से मानव हृदय ', 'भेड़िये' जटिलतर होती जाती जीवन स्थितियों और बदलते सामाजिक मूल्यों और सस्थाओं की निर्मम आलोचना करने वाली कहानियां है। भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों का रचनाकाल 1933 से 1939 तक का है। उनकी कहानियां अपने समय से काफी आगे की कहानियां हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में जीवन के भोगे हुए यथार्थ और आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं को प्रतीकात्मकता के साथ चित्रित किया है। भाषा का सधा और सटीक प्रयोग उनकी कहानियों को घनत्व प्रदान करता है जहाँ व्यर्थ का विस्तार नहीं हैं। वे क्षण को पकड़ कर अपनी कहानियों में चित्रित करते हैं जिसमें वर्तमान अतीत और भविष्य तीनों ही सिमट आते हैं। आकार में छोटी होने के बावजूद कहानियों की प्रभावोत्पादकता कहीं भी कम नहीं होती। यहाँ कहानी सुनने या पढ़ने का सिलसिला खत्म हो जाता है और उसे अनुभव करने का प्रयास शुरू होता है।'

भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों का शिल्प, भाषा और मुहावरे सब कुछ भिन्न हैं, भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियाँ इसीलिए उनके सभी समकालीन कहानी कारों से भिन्न हैं, उनसे आगे की हैं। ' अनुभूति की प्रामाणिकता' या 'भोगा हुआ यथार्थ' जैसे मुहावरे भले ही बाद में बने हो लेकिन भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में इन्हें स्पष्टतः देखा जा सकता है।

सन्दर्भ

१. स्टुअर्ट हाल, माडर्निटी एण्ड इट्स फ्यूचर, पृष्ठ - २

२. सी.जी. जुंग , माडर्न मैन इन सर्च ऑफ सोल , पृष्ठ - २२७

३. विपिन कुमार अग्रवाल, आधुनिकता के पहलू , पृष्ठ - ६५

४. वही, पृष्ठ - ८०

५. देवी शंकर अवस्थी, सम्पा : नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति, पृष्ठ - ३०

६. वही , पृष्ठ - ३१

७. वही, पृष्ठ - ३८

८. नामवर सिंह, कहानी: नई कहानी, पृष्ठ - २०

२. भुवनेश्वर प्रसाद और उनकी कहानियों का परिचय

भुवनेश्वर प्रसाद का व्यक्तित्व और जीवन संघर्ष

'ठिगना कद , दुबला पतला शरीर ,काली शेरवानी और सफेद पायजामा, आंखों में अजीब सी गहराई होठों पर सुलगता सिगरेट और बेतरतीब बिखरे बाल '- भुवनेश्वर के लगभग सभी परिचितों ने उनका लगभग यही खाका खींचा है। भुवनेश्वर प्रसाद -'आधुनिक हिन्दी एकांकी के जनक ', [१] - 'एक निहायत गैर जिम्मेदार आदमी' [२] - 'नौसिखुआ लेखक', [३] -- 'ऑक्सफोर्ड से पी. एच. डी', [४] - 'काठ की हांडी', [५] - 'आने वाले कल का लेखक', [६] - 'न्यूरॉटिक', [७] - 'विटी', [८] - 'बोहीमियन', [९] - 'जीनियस' [१०] - 'इन्टेलेक्चुअल हौवा', [११] - 'हिन्दी का इब्सन', [१२] - 'आधुनिक हिन्दी कहानी का प्रस्तोता', [१३] - 'विक्षिप्त','पागल',सिनिक आदि न जाने कितनी छवियों में पहचाने गये। दरअसल वे क्या थे इसे वे खुद भी शायद ही जानते हों। जानते होते तो वे उस स्थान से कहीं उपर होते जहां वे आज हैं।

अपने समय के लगभग सभी रचनाकारों के बीच उनका एक स्थान था । उनमें प्रतिभा थी, इस बात पर सभी सहमत हैं। वे साहित्य में गहरी रूचि रखते थे । उन्होंने पढ़ा भी काफी था,खासतौर पर अंग्रेजी साहित्य । अपनी मेधा के बल पर ही वे अपनी शर्तों पर जीवन जीना चाहते थे। यद्यपि ये शर्तें बहुत कठिन और कुछ हद तक 'जिद' जैसी थी लेकिन फिर भी वे अपने मूल्यों पर अडिग रहे और विक्षिप्त अवस्था में इलाहाबाद या बनारस की सड़को पर घूमते हुए एक दिन कूच कर गए। शाहजहाँपुर की सुप्त प्रायः नगरी - मुहल्ला रंग महल -सभी सम्पन्न परिवार ; वकील खाण्डसारी , सुनार, कचेहरी के अहेलकार। मुहल्ला चौक -सोने चांदी का सर्राफा , गिरवी गांठ की दुकानें । इसके उपर रायबहादुरों और खानबहादुरों की छत्रछाया और सबसे उपर अंग्रेज बहादुर का राज्य । जीवन के लक्ष्य , प्राथमिकताएँ स्पष्ट थीं । यह एक छोटी सी सुविधा सम्पन्न संस्कृति थी । पेट पालने के निश्चित तरीके थे और सफलता - विफलता को नापने के खुले मापदण्ड थे। ऐसे ही माहौल में भुवनेश्वर का जन्म सन् 1912 ई. में हुआ । उनकी पारिवारिक स्थिति अच्छी नहीं थी । बचपन में ही माँ की मृत्यु और सौतेली माँ के व्यवहार ने उन्हें भीतर से तोड़ दिया । उनका किशोर मन जीवन से विमुख हो साहित्य में सुकून तलाशने लगा ।सुकरात,प्लोटो,शॉ, इब्सन लारेंस में उनका मन

रचने बसने लगा। हाई स्कूल के पाठ्यक्रम के बजाय ग्रीक फिलास्फर, यूरोपीय साहित्य उन्हें अधिक रूचिकर लगनेलगे। इस सबके चलते उनकी पढ़ाई ग्यारहवीं कक्षा के बाद छूट गयी। लेकिन उनके सपने बहुत उंचे थे। गम्भीर स्वभाव ने उन्हें अपने हमउम्रों से ही नही परिवार से भी अलग कर दिया। 'नोन तेल लकड़ी' में वे अपना जीवन झोंकना नही चाहते थे। गम्भीर स्वभाव और लगातार सोचते रहने की मुद्रा के कारण लोग मज़ाक में उन्हें फिलास्फर कहने लगे। किशोर मन में फिलास्फर बननेकी ललक जाग उठी और वैसा ही वे प्रदर्शित करने लगे। उठने बैठने का ढंग, बात करने का लहज़ा ,आंखो की गहराई, बेतरतीब बाल, लापरवाह अन्दाज, सब कुछ उन्हें विशिष्ट बनाने लगा। धीरे-धीरे प्रदर्शन और वास्तविकता का भेद मिट गया और यही सब अंत तक के लिए वास्तविक बन गया।

बचपन में ही मां की मौत, आर्थिक विपन्नता और विमाता के व्यहार से घर से उनका मोहभंग हो गया था। जीविका का कोई साधन नही था। छोटी नौकरी फिलास्फर को शोभा नहीं देती थी। बड़ी नौकरी लायक प्रतिभा होते हुए भी डिग्री नहीं थी एक ही रास्ता बचा था कि कुछ लिखा पढ़ा जाए।यही सपना लेकर घर छोड़ देया। शुरू में दोस्तों ने सहारा दिया, लेकिन दूर तक साथ नहीं चल पाए।

भुवनेश्वर का अहं भी आड़े आया। अपनी जीनियस के बल पर वे अपने दोस्तों व परिचितों से हक के तौर पर पैसे मांगने लगे। इलाहाबाद पंहुचे, घूमते फिरते प्रेमचन्द से मिले। प्रेमचन्द ने उनके लेखन को हाथों- हाथ लिया और शीघ्र ही भुवनेश्वर प्रसाद चर्चित एकांकीकार हो गये। उनका पहला एकांकी अक्टूबर 1933 में 'हंस' में प्रकाशित हुआ -'श्यामाः एक वैवाहिक विडम्बना''। आगे के लिए मार्ग स्पष्ट हुआ था उनके सभी एकांकी और कहानियां 'हंस', 'रक्ताभ', 'रूपाभ' आदि में छपे। साहित्य में उनकी एक जगह भी बनी। उनकी पहली कहानी 'मौसी' को प्रेमचन्द ने ' हिन्दी की आदर्श कहानियाँ ' में संकलित किया। लेकिन भुवनेश्वर के सपने कहीं उंचे थे। उन्हें अपनी जीनियस का उचित पारितोषिक नहीं मिल रहा था। अपने कद को उंचा उठाने के लिए वे झूठ बोले, फरेब किया,बेझिझक सहायता मांगी और इसी सब में घिरते चले गये। भुवनेश्वर प्रसाद के जीवन की अनेक घटनाएं, जिनका उनके समकालीनों, मित्रों ने ज़िक किया है, उनके व्यक्तित्व को समझने में सहायक साबित हुई हैं।

डा. राम विलास शर्मा ने उनकी एक हरकत का जिक्र करते हुए लिखा है ''उनके मज़ाक में वीभत्स, अद्भुत ,कारण , श्रृंगार , सभी रसों का थोड़ा- थोड़ा पुट रहता

था।''[१४] घटना कुछ इस प्रकार थी- 'माधुरी' में निराला का एक लेख छपा-'मेरे गीत और कला', साथ में कुछ कुश्ती की सी मुद्रा में वक्ष तक का नग्न चित्र। लेख का शेष भाग अगले अंक में छपने की सूचना थी। भुवनेश्वर ने लेख पढ़ा, फिर चित्र देखा, उन्होंने चित्र के नीचे भी लिख दिया - ' शेष अगले अंक में '।[१५] इसी तरह का एक मज़ाक उन्होंने अपने प्रिय कवि इलियट की पत्रिका के साथ किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान 'क्राइटीरियन ' बन्द हुई। अंतिम अंक के संपादकीय वक्तव्य को पढ़कर भुवनेश्वर ने उसके नीचे भी इलियट की ही पंक्तियां टांक दीं-

"Thisis the way the word ends

not with a bang but a whisper"

(और इस तरह दुनिया खत्म होती है डंके की चोट पर नहीं, एक सिसक के साथ)--

भुवनेश्वर जीवन की कटुता के स्वयं भोक्ता थे। उन्होनें यह ज़हर काफी पिया था। फिर भी लगातार मस्तमौला दिखने का प्रयास वे करते थे। वे एक ज़िन्दादिल व्यक्तित्व थे। शर्मा जी उन्हें याद करते हुए कहते हैं "वे गाते भी थे -ठेठ लोक गीत, जिनमें शृंगार के भाव इस तरह आते थे कि वे गीत न तो अखबार में छापे जा सकते थे और न ही चार 'भले लोगों के बीच सुनाए जा सकते थे। इलियट की

दिमागी कसरत वाली कविताओं के साथ उन्हें इन गंदे देहाती गीतों से बेहद प्रेम था।''[१६] यहाँ ध्यान देना ही होगा कि शर्मा जी जिन्हें ' गंदे देहाती गीत' कह रहे हैं वे ही भुवनेश्वर के प्रिय थे। भुवनेश्वर और राम विलास शर्मा की प्राथमिकताएं और पक्षधरता इस बात से स्पष्ट की जा सकती हैं।

राम विलास शर्मा ने भुवनेश्वर को 'न्यूरॉटिक' कहा है। इसी नाम से उन्होंने 'निराला की साहित्य साधना' मे एक लेख भी लिखा है। शर्मा जी याद करते है ''मैं उनसे कहता --तुम न्यूरॉटिक हो , प्रोग्रेसिव राइटर्स से तुम्हारा क्या सम्बन्ध? भुवनेश्वर जवाब देते --ए प्रोग्रेसिव इज़ ए न्यूरॉटिक शोट थ्रू विद होप''[१७] इस तरह से भुर्वनेश्वर को पहले 'न्यूरॉटिक' फिर विक्षिप्त घोषित कर दिया गया। पर उनके मित्र शमशेर बहादुर सिंह अपने साक्षात्कार में कहते हैं '' मैं नहीं मानता कि वो विक्षिप्त हो गये थे। वो 'वेगाबान्ड' (आवारा)हो गये थे। कुछ न कुछ कॉमनसेन्स हर वक्त रहता था। एकदम 'डिरेल' नहीं होते थे । अपनी डिग्निटी कायम रखते थे''[१८]

भुवनेश्वर ने एक ऐसी जीवन शैली अपना ली थी जिसमें नैतिक मर्यादाएं छोटी पड़ जाती हैं। 'बोहीमियन' कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता । भुवनेश्वर ने भी नहीं

किया । कई बार नौकरी करने के अवसर आए लेकिन अहं आड़े आया । बंधन स्वीकार नही किया।प्रेमचन्द ने 'हंस' में काम करने के लिए बुलाया । लखनउ आकाशवाणी में अवसर मिला । कुछ दिन 'नैनीताल गजेटियर' में काम भी किया,लेकिन अंततः वही 'वेगाबान्ड़' जीवन शैली में वापस आ गये । इस शैली के जीवन यापन में आर्थिक तंगी स्वाभविक है । मित्रों परिचितों में जिसके साथ रहते उसी के सहारे खर्च चलता था भुवनेश्वर का । शमशेर , त्रिलोचन, नरोत्तम नागर , डा० सुरेश अवस्थी, पी० डी० टंडन, रसूल अहम अबोध , प्रेमचन्द आदि ने उनकी हर सम्भव सहायता की । लेकिन यह सब कब तक चलता?

इसी बीच ऐसी घटना भी घटी जिसने साहित्य के क्षेत्र में भुवनेश्वर को काफी क्षति पंहुचाई । पैसों के लिए उन्होंने सन् 1936 में निराला पर एक आलोचनात्मक लेख 'माधुरी ' पत्रिका के लिए लिखा। छपने पर बवाल खड़ा हो गया । निराला जैसा स्थापित साहित्यकार , उस पर भुवनेश्वर जैसे नौसिखुए की टिप्पणी ! निराला और उनके प्रशंसक पचा नही पाए । निराला दो - दो संपुष्टियों के साथ मैदान में आए । उन्होंने जवाब दिया । जवाब मुंहतोड़ ही नहीं बल्कि 'इमेज' तोड़ भी था । जवाब नितान्त व्यक्तिगत था, निजी आरोप थे । आलोचनात्मक टिप्पणी दर किनार कर दी गई । निराला लिखते हैं " मुझे विश्वास नहीं कि भुवनेश्वर प्रसाद

मेरे बारे में सही- सही लिखेंगे अगर वह व्यक्तिगत है आलोचना नहीं और भुवनेश्वर प्रसाद की मेरी कोई बातचीत तब तक सम्भव नहीं जब तक वे अटठ्ारह साल की उम्र में एम. ए. पास कर आई. सी. एस में चुने जाने की पूरी योग्यता रखते हुए भी उसे छोड़ कर हिन्दी सेवा के विचार से आए हुए नहीं ।''[१९] इसके बाद पं. वाचस्पति पाठक और प. बलभद्र प्रसाद मिश्र की दो 'सम्पुष्टियां', भी थीं। निराला ने 'माधुरी ' के संपादक को जो लिखा था वही हुआ । उन्होने लिखा था ''मैं आपकी स्वाधीन वृति पर कोई दबाव नहीं छोड़ता । आप चाहें तो छाप सकते हैं परन्तु इसका भविष्य आप ही के हाथों (मेरा उत्तर माधुरी में छपने पर) से भुवनेश्वर प्रसाद के लिए अत्यन्त अहितकर प्रमाणित होगा । वे साहित्य में दागी होकर दोबारा शायद ही उभर पाएं ।''[२०]

भुवनेश्वर दागी करार दिए गए पर प्रतिभा भोथरी नहीं हुई । उन्होंने निराला तथा उनके दोनों सहायकों का एक साथ उत्तर दिया । निराला के लेख पर बेबाक राय जाहिर की-''अगर यह निराला जी का Vindication है तो कुरूचि पूर्ण और Revenge है तो बेहद सख्त ..... रही बात आई . सी . एस . के फरेब की तो मैं अपराधी 'प्ली' कर चुका हूँ । परिस्थितियाँ बलवती मनुष्य से इससे भी जघन्य

काम करवाती हैं। मुझसे भी करवा चुकी हैं इन्हें संग्राम करते कलाकार पर दाग लगाने के लिए प्रयोग करना हल्कापन है '' फिर अपनी बेसरोकारी पर लौटते हुए लिखते हैं 'अगर इस बात के लिए जन्म भर Taboo किया जा सकता हूँ तो मेरी बला इसकी परवा करे ' और अन्ततः ' अगर मै वाकई मर गया हूँ तो ग़ालिब का एक शेर निराला जी. मिश्रजी पाठक जी और पसे पर्दा और सज्जन सुन लें :-

'' गर नहीं है मेरे मरने से तसल्ली न सही

इम्तेहाँ और भी बाकी हों तो यह भी न सही ''[२१]

इस पूरे प्रकरण में भुवनेश्वर तो 'दागी' करार दिये ही गये इस चोट को निराला भी लम्बे समय तक भूल नहीं पाए और बकौल रामविलास शर्मा '' काफी दिनों तक भुवनेश्वर की बातें बिसूरते रहे।''[२२] भुवनेश्वर साफगोई से काम लेते थे। वे फरेब करते थे, झूठ बोलते थे, लेकिन अपराधी पकड़े जाने पर तुरन्त 'अपराधी प्ली' कर लेते थे।

भुवनेश्वर दागी करार दिये गए, दोबारा उभर नहीं पाये लेकिन उनकी प्रतिभा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह सिर्फ उनकी बेसरोकारी की वजह से हुआ। राम विलास शर्मा लिखते हैं कि "भेद खुल जाने पर भी उनकी प्रतिभा की दाद देने वाले उनमें से दस पाँच फिर भी बचे रहे"[२३] वे लगातार लिखते रहे और छपते रहे। बल्कि इसके बाद ही उन्होंने अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान साहित्य को दिया। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'भेड़ियें' सन् 1938 में और असंगत नाटक 'ऊसर' और 'तांबे के कीड़े' कमशः सन् 1938 और '46 में प्रकाशित हुए।

हाँ, निजी क्षति यह हुई कि जो आभा मण्डल उनके इर्द-गिर्द तैयार हो गया था वह समाप्त हो गया। मित्रों और शुभचिंतकों की संख्या घट गयी। भुवनेश्वर लगभग अकेले पड़ गये। परिस्थितियां विकट-तर होती गई मित्रों के कमरों से वे सड़क पर आ गये। जिनका सहारा था वे घटते गये। मित्र भी आखिर कब तक साथ देते। धीरे- धीरे भुवनेश्वर पूरी तरह सड़क पर आ गये। यह दौर था सन् 53 - 54 का। इस दौरान भी उन्होंने लिखा। अपने अंतिम दिनों में वे बनारस की सड़कों पर फटेहाल घूमते देखे गये। जितेन्द्र ने अपनी कहानी 'नन्द के लाल' में यह प्रसंग दिया है " जब करुणा शंकर ने देखा कि हिंदी का यह इब्सन एक बोरे को शरीर पर

लपेटे बनारस की सड़कों पर घूम रहा है तो उनके हाथ के तोते उड़ गये। नवम्बर का महीना उतर रहा था, सर्दी कड़ाके की पड़नी शुरु हो गई थी। भूखे प्यासे भुवनेश्वर सड़कों पर घूमते हुए, दशाश्वमेध घाट पर एक दिन सर्दी से अकड़ कर इस दुनिया से कूच कर गये।"[२४] और इस तरह एक 'जीनियस' खत्म हो गया न तो डंके की चोट के साथ और न ही सिसकी के साथ.....

अभी कुछ वर्ष पहले हंस में हृदयेश का भुवनेश्वर पर एक लेख छपा 'भुवनेश्वर : आने वाले कल का लेखक'। इस लेख में वे भुवनेश्वर का चरित्रांकन अमृत लाल नागर के उपन्यास 'पीढ़ियां' के एक पात्र, श्यामाचरण श्रीमाली, के माध्यम से करते हैं और लिखते हैं कि " येसारे विवरण दूसरों के सामने अपने को पेश करने के ढंग और तेवर से मेल खाते हैं"[२५] आगे निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं "इस लिए अपने में कटु और वितृष्णामय होते हुए भी हमको इस सच्चाई को स्वीकार करना होगा कि भुवनेश्वर प्रसाद गलत हरकतों वाले एक निहायत गैर जिम्मेदार आदमी थे जो अपनी तुच्छ जरुरतों की पूर्ति या अपनी कुंठा की किसी गांठ को सेकने के लिए कोई भी स्कैंडल कर सकते थे और अपने इन क्रिया-कलापों से वह अपने जीवन काल में ही एक खास तरह की चर्चा के बिन्दु बनते हुए मिथ बन

गये''[२६]। हृदयेश की इन पंक्तियों को पढ़ते हुए मुझे अचानक साहित्य के दो अन्य मिथ याद आते हैं - घीसू और माधव। प्रेम चंद की कहानी 'कफन' के ये दो पात्र भी हृदयेश के शब्दों में कहा जाय तो निहायत गैर जिम्मेदार, निकम्मे, कामचोर और घटिया इंसान हैं लेकिन हमारी दिक्कत यह है कि घीसू और माधव तो अमर पात्र हैं लेकिन भुवनेश्वर यदि जीवन में वैसे ही थे तो गलत थे। साहित्य तो कपोल कल्पित है वहाँ सब तरह के पात्र संभव हैं लेकिन जीवन में!

जिन विडम्बनाओं और अभावों में घीसू और माधव पैदा होते है और पलते बढ़ते है क्या वे विडम्बनाएं और स्थितियां कहानियों उपन्यासों तक ही सीमित हैं या जीवन से यथार्थ से उनका कुछ लेना- देना है ? दरअसल हमारी दिक्कत यह है कि साहित्य में पढ़ने में जो कुछ भी हमें मार्मिक, स्पृहणीय लगता है वह जीवन में जब अचानक सामने आ जाता है तो हम बगलें झाकनें लगते है, इधर-उधर के तर्क खोजने लगते है। अगर घीसू- माधव हाड़ तोड़ मेहनत करने के बाद दो जून रोटी खा कर जिन्दगी बसर कर देते तो साधारण मजूरे होते, उन्हें प्रेमचन्द की कहानी का पात्र बनाने का हक नहीं होता। इसी तर्क पर यदि भुवनेश्वर कहीं तहसील या कचेहरी में लेखपाल या पेशकार हो जाते और मुहल्ला रंगमहल में सपरिवार

जिन्दगी बसर कर देते तो अच्छी हरकतों वाले निहायत जिम्मेदार आदमी होते !

कुछ लोगों के अनुसार भुवनेश्वर दास्तों से किताबें, कलम , गिलोरी दान आदि लेकर या चुराकर उन्हें बेच कर शराब पीते थे और घीसू- माधव काम इसलिए नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि काम करके भी वे अपना पेट नही भर सकते। भुवनेश्वर के लिए यह मुश्किल था कि वे अपने से कम प्रतिभावनों की चाकरी करें या साहित्य में स्थापित मठों में माथा टेकें।

दोनों ही सामाजिक,आर्थिक और सांस्कृतिक विडम्बनाओं के शिकार है। लेकिन हम घीसू-माधव के तर्कों को सही मानते हुए उनकी कामचोरी की वकालत कर लेते हैं और भुवनेश्वर के तर्कों को बेमानी मानते हुए उनको गैर जिम्मेदार और गलत हरकतों वाला आदमी होने का फतवा दे देते हैं। सही भी है। भुवनेश्वर ,और हम भी ,जिस छोटी सी सुविधा सम्पन्न संस्कृति में पले बढ़े , उसी संस्कृति में पले- बढ़े 'जिम्मेदार ' आलोचक हृदयेश के लिए वे क्यों न एक निहायत गैर जिम्मेदार आदमी हों।

भुवनेश्वर ने प्रेमचन्द की मृत्यु पर एक लेख में लिखा था "वह शेली नही था, टैगोर भी नहीं था। शुरूआत में वह लिखने का शौकीन था , बीच में संघर्ष करता

हुआ कलाकार और बाद में एक कैरेक्टर।''[२७] कौन जानता था कि प्रेमचन्द्र के बारे में उनकी लिखी पंक्तियाँ एक दिन उन्हीं के बारे में सच हो जाएंगी !

भुवनेश्वर की कहानियॉ ---

भुवनेश्वर प्रसाद ने अधिक नहीं लिखा है पर जितना लिखा है सब महत्वपूर्ण है । कम लिखकर महत्वपूर्ण होने में गुलेरी जी के बाद भुवनेश्वर का दूसरा स्थान है। उनके पन्द्रह एकांकी, आठ कहानियां और तीन लेख अभी प्राप्त हो पाए है। लगभग इतना ही अभी खोजने पर प्राप्त होने की सम्भावना है। उनके एक मित्र श्री कृष्ण नारायण कक्कड़ के अनुसार भुवनेश्वर की कई कहानियां, कविताएं और रिव्यू आशवाणी लखनऊ से 1946 से 48 -49 के बीच प्रसारित हुए थे, जो आज अप्राप्य हैं। और जो 8 कहानियां प्राप्त हैं वे सन् 1933 से '39 तक की ही है, जब कि इसके बाद भी वे काफी समय तक लिखते रहे। उनकी जो कहानियॉ मिलती हैं उनको 'भुवनेश्वर साहित्य' नामक पुस्तक में संग्रहीत किया गया है।

कहानी	प्रकाशन	पत्रिका
मौसी	अक्टूबर 34	'हंस'

हायरे मानव हृदय	मार्च 35	'हंस'
एक रात	1936	'हंस'
लड़ाई	जून 1936	'हंस'
मां बेटे	अप्रैल 37	'हंस'
भेड़िये	मई 38	'हंस'
मास्टरनी	मई 38	'चकल्लस'
सूर्यापूजा --एक स्केच	सितम्बर 39	'हंस'

भुवनेश्वर की यथार्थ की समझ का सही परिचय उनकी कहानियों में मिलता है। उनके नाटकों में जो यथार्थ घटनाविहीन- घटना और शब्दोंमें व्यक्त होता है, वह कहानियों में स्पष्ट रूप से मुखर होकर आता है। भुवनेश्वर की कहानियाँ मध्यवर्ग के संघर्षों और तनाव के बीच मजबूरियों की गम्भीरता को व्यक्त करती हैं। किसी भी परिवर्तन से उत्पन्न सांस्कृतिक विडम्बनाओं और विसंगतियों को सिर्फ मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग ही भोगता है। भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियाँ इसी मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग की जीवनगत विसंगतियों को रेखांकित करती हैं।

उनकी पहली प्राप्त कहानी 'मौसी' है जो 'हंस'में अक्टूबर ''34 में प्रकाशित हुई थी। मौसी मुख्य पात्र है जो प्रेम का प्रतीक है। पहले वह अपनी बहन के विधुर पति को , फिर उसके पुत्र बसन्त को और उसके बाद बसन्त के पुत्र को आश्रय देती हैं । आर्थिक विपन्नता के बावजूद वह पीढ़ी- दर- पीढ़ी प्रेम का ही दान देती रही और एक दिन बसन्त पाता है, कि वह मर गई है। बसन्त के प्रति उसके स्नेह का एक अन्य कारण 'मौसी' की मृत्यु के बाद खुलता है - मौसी मरते समय बसन्त के पिता का चित्र, हृदय से चिपकाए थी।

'हाय रे मानव हृदय ' की शुरुआती संरचना किसी पुरानी तिलस्मी कहानी की तरह है। एक स्त्री अपने पति के लिए डॉक्टर को बुला कर ले जाती है और डाक्टर को रोगी तक पंहुचा कर गायब हो जाती है। डाक्टर इलाज करता है लेकिन वृद्ध बच नहीं पाता। इसी समय डाक्टर उसी 'स्त्री' का तैल चित्र देखता है। घर से डाक्टर को पता चलता है कि वह १७ वर्ष पहले मर चुकी है। डाक्टर हतप्रभ रह जाता है, तभी चौकीदार आकर डाक्टर को अलग ले जाकर रहस्य खोल देता है -- वह स्त्री जीवित है जो १७ वर्ष पहले अपने प्रेमी के साथ भाग गई थी । इस कहानी में मानवीय संवेदनाओं को बड़ी बारीकी से उकेरा गया है।

'एक रात ' के प्रकाशन के बारे में सही सूचना नहीं है। उनके कई मित्र इसे 'हंस ' में ही प्रकाशित बताते हैं। डाक्टर शुकदेव सिहं ने इसे खोज कर सन् 1990 में 'आनन्द मंजरी' नामक पत्रिका में प्रकाशित किया था। अपनी पुस्तक 'भुवनेश्वर की रचनाएं ' में वे इसका प्रकाशन वर्ष सन् 1936 ही बताते हैं। इस कहानी में विवाहित स्त्री के विवाह- पूर्व सम्बन्धों को रेखांकित किया गया है। पूर्व प्रेमी लम्बे समय बाद पूर्व प्रेमिका , जो अब किसी की पत्नी है,से मिलता है और एक रात उसके घर ढहरता है। इस रात के ' ठहराव' और गुजर जाने को यह कहानी व्यक्त करती है।

'लड़ाई ' रेल यात्रा की कहानी है। यात्री-सैनिक,विद्यार्थी, महिला,खद्दर-पोश व्यक्ति अपने - अपने अर्न्तद्वन्द्वों को व्यक्त करते हैं। कहानी एक ही रात रात में घटती है। सुबह सभी अर्न्तद्वन्द्वों से मुक्त बच्चा सिगरेट के टुकड़ों से खेल रहा है। आदर्शों के खोखलेपन और मानसिकद्वंद्व को कहानी में वय और वर्गों की दृष्टि से रेखांकित किया गया है।

'मां बेटे ' मौत की भयावहता और यंत्रणा को चित्रित करती है। मां मृत्यु शैय्या पर हैं। बेटे और अन्य सम्बन्धी उससे आर्शीवाद ले रहे हैं और कहानी के अंत में बेटा अन्य लोगों को इसलिए नहीं जगा पाता कि वह मृत्यु को पहली बार इतने

नजदीक से देख रहा है।यह कहानी मृत्यु को भयावह शीतल स्पर्श की हद तक चित्रित करती ही है साथ- साथ यह परिवार की संयुक्त इकाई के टूटने को भी रेखांकित करती है । इसका प्रकाशन भी 'हंस' में अप्रैल 1937 में हुआ था। 'भेड़िये' भुवनेश्वर की ही नहीं, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में गिनी जाती है। हिन्दी कहानी के विकास कम मेंआधुनिक कहानियों में प्रेमचंद की 'कफन' के बाद यही कहानी है। प्रत्येक दृष्टि से यह एक आधिुनिक कहानी है। यह खारू बंजारे, जिसे जीवन की परिस्थितियों ने इफ्तेखार से 'खारू' बना दिया है, की कहानी है। भेड़िये व्यवस्था के शोषक है, संगठित है । खारू शोषित है, अकेला है। यह कहानी जंगल से गुजरते समय खारू बंजारे के गड्डे का पीछा करते भेड़ियों को चित्रित करती है। प्रतीक रूप में यह कहानी सामंती शोषण को चित्रित करती है। खारू और उसका बूढ़ा बाप भेड़ियों का मुकाबला करता है और बेटे को बचाने के लिए बूढ़ा बाप भेड़ियों के बीच कूद पड़ता है। बेटा बच जाता है। कहानी यहीं खत्म नहीं होती ,खारू बताता है कि अगले ही साल उसने ६० भड़िये और मारे ...

डा. शुकदेव सिंह ने इसे हिन्दी की पहली 'नई कहानी ' के रूप में स्थापित किया है। इस पर सन् 1991 में' हंस' में लम्बी बहस चली थी। इस बहस में भिन्न - भिन्न प्रतिकियाएं आई थीं। दरअसल यह कहानी इतनी अप्रत्याशित है कि लोगों ने इसे

हिन्दी की कहानी मानने से ही इन्कार कर दिया। अनेक लोगों ने इसे भुवनेश्वर के चरित्र को ध्यान में रखते हुए 'कहीं से उड़ाई गई' कहानी बताया परन्तु ये महानुभाव 'असली' कहानी प्रस्तुत नहीं कर पाए।

'मास्टरनी ' मई 1938 में ' चकल्लस ' में प्रकाशित हुई थी। 'मास्टरनी ' एक इसाई औरत की कहानी है जो अपने परिवार के लिए ही जीवित है। उसके सपने मर चुके हैं। निःस्वप्न मास्टरनी- अपनी ममी, मुरली, टुटू और पापा के लिए सिर्फ जी भर रही है। वह ट्यूशन करती है और अपना तथा अपने परिवार का पेट पालती है , उनके सपने पूरे करती है। यह स्त्री आजीविका के लिए खुद को घिस रही है। कहानी का कथ्य और शिल्प दोनों आधुनिक है। इसी कथ्य पर प्रियंवदा का भी एक उपन्यास ' पचपन खम्भें लाल दीवारें ' काफी समय बाद प्रकाशित हुआ था।

'सूर्य पूजा ', 'एक स्केच ' के नाम से सितम्बर '39 में 'हंस' में प्रकाशित हुआ था। इसे 'सूर्य पूजा' नाम डा० शुकदेव सिंह ने दिया है। यह जीवन के संत्रास , उब और मृत्यु बोध की कहानी है। यद्यपि यह कहानी के पारम्परिक रूप में नहीं है तथापि कथ्य और शिल्प दोनों कहानी वाला ही है। और यदि इसे भुवनेश्वर की अन्य कहानियों के साथ काल कम में पढ़ें तो यह, कहानी के बदले स्वरूप , की कहानी भी मानी जा सकती है। डाक्टर और विलास बात-चीत करते हुए 'फिसलौने

खड़चड़ें ' पर चल रहे है। विलास की हालत नशे की सी है। डाक्टर उसे सहारा दे रहा है। जीवन के उब और संत्रास को विलास व्यक्त कर रहा है। दोनों का वार्तालाप विलास के मृत्यु बोध से ही प्रारम्भ होता है। डाक्टर निराश हो चुका है, विलास भी हताश है, लेकिन इस हताशा के बावजूद वह सर्वहारा के लिए एक नये सूर्य का सपना देख रहा है।

प्रतीकों की विस्तृत एवं संश्लिष्ट सघन संवेदना, चरित्रों की सी विडंबनापूर्ण स्थिति में जीना और निरंतर एक अतिरिक्त क्षोभ से पीड़ित रहना, यह सब एक अतिरिक्त संयम और सावधानी की अपेक्षा रखता है। भुवनेश्वर इस अर्थ में बहुत ही जागरूक और संश्लिश्ट रचनाकार हैं। वह जब चरित्र को पकड़ते हैं तो कहानी की आवश्यकता के अनुसार उसको संयम से ढालते है। अपने अस्त-व्यस्त, संयमहीन, उसर जीवन से उन्होंने संवेदनाओं के इतने आयाम प्रस्तुत किये यही उनकी विशेषता है।

संदर्भ

१. विपिन कुमार अग्रवाल - कारवां तथा अन्य एकांकी , पृष्ठ १६

२. हृदयेश - भुवनेश्वर : आने वाले कल का लेखक, हंस, अगस्त ९१, पृष्ठ ३५

३. वाचस्पति पाठक - निराला का उत्तर , संपुष्टि, हंस, जनवरी १९३७ पृष्ठ ३२

४. सुमित्रा नन्दन पंत - पी. डी. टण्डन का साक्षात्कार , भुवनेश्वर- व्यक्ति एंव कृतित्व,पृष्ठ २९७

५. हृदयेश - वही, पृष्ठ ३६

६. प्रेमचन्द - प्रोग्रेसिव राइटर्स एसो. के अध्यक्षीय भाषण, अप्राप्त रचनाएं - भाग दो, पृष्ठ ७०

७. चन्द्रमोहन दिनेश- सम्पा., साहित्य का धूमकेतु- भुवनेश्वर, रामविलास शर्मा का लेख , पृष्ठ १२

८. शमशेर बाहादुर सिंह- साक्षात्कार, भुवनेश्वर : व्यक्तित्व एंव कृतित्व पृष्ठ २२४

९. शमशेर बाहादुर सिंह - कविताएं, कुछ और कविताएं , पृष्ठ ५६

१०. चन्द्रमोहन दिनेश- सम्पा., साहित्य का धूमकेतु, पृष्ठ १०

११. हृदयेश - वही पृष्ठ ३९

१२. जितेन्द्र - नन्द के लाल, हंस, मई २१ पृष्ठ २५

१३. विजय मोहन सिंह - राजेन्द्र यादव के 'हंस' जुलाई ९१ के सम्पादकीय से उध्दृत, पृष्ठ ६

१४. रामविलास शर्मा - पंचरत्न, पृष्ठ ७१

१५. वही, पृष्ठ ७२

१६. वही, पृष्ठ ७१

१७. चन्द्रमोहन दिनेश - साहित्य का धूमकेतु- भुवनेश्वर, रामविलास शर्मा का लेख, पृष्ठ १८

१८. शमशेर बहादुर सिंह- भुवनेश्वर व्यक्तित्व एंव कृतित्व, पृष्ठ २२५

१९. रा.स.बेदार, राजकुमार शर्मा- सम्पा. भुवनेश्वर साहित्य, पृष्ठ २६७

२०. वही, पृष्ठ २६८

२१. चन्द्रमोहन दिनेश - साहित्य का धूमकेतु : भुवनेश्वर, रामविलास शर्मा का लेख पृष्ठ १५

२२. वही, पृष्ठ १५

२३. वही, पृष्ठ १५

२४. जितेन्द्र - नन्द के लाल, हंस, मई, ९१ पृष्ठ २५

२५. हृदयेश - भुवनेश्वर : आने वाले कल का लेखक, हंस, अगस्त ९१, पृष्ठ ३५

२६. वही, पृष्ठ ३६

२७. रा.स.बेदार, राजकुमार शर्मा- सम्पा. भुवनेश्वर साहित्य, पृष्ठ २७४

३. भवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में आधुनिकता बोध

पृष्ठभूमि

हिन्दी गद्य साहित्य में आधुनिकता बोध की शुरुआत 30-40 के दशक से होती है। यह वह समय है जब समाज के साथ साथ साहित्यिक प्रवृत्तियां भी तेजी से बदल रही थीं। छायावादी रुझान टूट रहा था। रूमानियत और कपोल कल्पनाओं पर तार्किकता और यथार्थ हावी हो रहा था। गद्य साहित्य भी आदर्शवादी लीक छोड़ कर जीवन के यथार्थ से जुड़ रहा था। पाश्चात्य विचार और साहित्य पर्याप्त रुप से भारतीय मेधा को प्रभावित कर रहा था। लन्दन में सज्जाद जहीर, मुल्क राज व अन्य लेखक 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' का गठन कर रहे थे।[१] भारत में भी प्रगतिवादी मार्क्सवादी स्वर उठ रहा था। साथ - साथ हेडेगर, किर्केगार्द और फ्रायड जैसे चिन्तकों का प्रभाव भी भारतीय रचनाकार ग्रहण कर रहे थे। कुछ प्रगतिशील रचनाकार मार्क्सवाद और फ्रायडवाद दोनों के समन्वय पर बल दे रहे थे।[२] किर्केगाद का अस्तित्ववादी चिंतन भी, जो मनुष्य की वैयक्तिकता पर बल देता है, महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। गॉधी वादी आर्दश और मानवीय मूल्य

कहीं पीछे छूटते से नज़र आ रहे थे। विज्ञान की तार्किकता भी साहित्य पर हावी हो रही थी। जीवन और साहित्य दोनों के मूल्य बदल रहे थे।

इस युग का रचनाकार एक सामाजिक दायित्व महसूस करने लगा था। उसकी संवेदना बदल रही थी। वस्तु और घटना को देखने का उसका दृष्टिकोण बदल रहा था। वैज्ञानिक दृष्टि के कारण उसकी सोच में बड़ा फर्क आ गया था। विश्वासों और रुढियों के प्रति जो अंधश्रद्धा थी, खत्म हो रही थी। प्रयोगशीलता के इस युग में पाप- पुण्य, नैतिक - अनैतिक, अच्छाई - बुराई, सच-झूठ की सभी परिकल्पनायें बदल रहीं थीं। इस परिवर्तन से रचनाकार के व्यक्तित्व में भी परिवर्तन हुआ। उसके संस्कार और संवेदना भी बदली। वह जिन सामाजिक संदर्भों का अवबोधन करता आया था वह भी परिवर्तित हुआ। फलस्वरुप रचनाकार ने बदले हुए सामाजिक संदर्भों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए अनेक स्तरों पर प्रयोग किए। कथा साहित्य में यह प्रयोग प्रेम चन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल और भुवनेश्वर आदि ने किया। पुराने दौर की कथा दृष्टि के कुछ निर्धारित नियम थे। उनके निर्वाह के कुछ निश्चित तरीके थे। इन्हीं आधारों पर कथाकार अपना निर्णय देता था। लेकिन बदली हुई परिस्थित में कहानी का यह बंधा-बंधाया क्रम टूट गया। कोई आर्दश या नियम कहानी के लिए बेमानी हो

गया । निश्चित नियम सिर्फ एक बचा था कि येन- केन- प्रकारेण कथाकार व्यक्ति और समाज की गहराई से जुड़ने का प्रयास करें। फलस्वरुप कहानी से घटना का तत्व किनारे होता गया और यथार्थ का मनोवैज्ञानिक चित्रण केन्द्र में आ गया। प्रेम चन्द ने कथा संग्रह 'मानसरोवर' की भूमिका में लिखा है- 'वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक रहती हैं। बल्कि अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती है। मगर यह समझना भूल होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र मनुष्य स्वयं हो सकता है, परन्तु कहानी के पात्रों के दुःख सुख से हम जितना प्रभावित होते हैं उतना यथार्थ जीवन से नही होते; जब तक यह निजत्व की परिधि में न आ जाए। अगर हम यथार्थ को हूबहू खींच कर रख दें तो उसमें कला कहॉ है ? कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं।[3] फलस्वरूप कहानी में घटना या किस्सागोई के बजाए रचनाकार यथार्थ का चित्रण, बल्कि यथार्थ के बीच की स्थितियों को रेखांकित करने लगा। साथ ही यह प्रवृति

रचनाकार को रचना से दूर भी ले गई। रचनाकार स्वयं को स्थितियों और सन्दर्भों से काट कर देखने का प्रयास करने लगा।

इस सब के साथ साहित्य में विचारधारा का जुड़ाव भी स्पष्ट होने लगा। रचना किसके लिए' का सवाल उठने लगा था। मार्क्सवादी रचनाकार इस सवाल का जवाब मार्क्सवादी दृष्टि से दे रहे थे और अस्तित्ववादी अपनी दृष्टि से। कुछ ऐसे भी रचनाकार थे जो दोनो के बीच का रास्ता निकलने का प्रयास कर रहे थे जिससे प्रगतिशील मूल्यों की रक्षा के साथ-साथ व्यक्ति के अस्तित्व की अवहेलना भी न हो। इस दृष्टि से प्रेमचन्द, जैनेन्द्र व अज्ञेय ने कहानी की दिशा निर्धारित करने का प्रयास जारी रखा। जहॉ प्रेमचन्द ने सामाजिक सन्दर्भो को उठा कर प्रगतिशील दृष्टि से कहानियॉ लिखी वहीं जैनेन्द्र ने कहानी को घटना के स्तर से उठाकर चरित्र और उसके मनोविज्ञान को अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया। साथ ही उन्होंने कथावस्तु को समेटकर व्यक्ति केन्द्रित किया। अज्ञेय ने दोनो के बीच का रास्ता लेते हुए, सामाजिक सन्दर्भो से जूझते व्यक्ति के अन्तर मे झांकने का प्रयास किया। लेकिन इन रचनाकारों से भुवनेश्वर की रचना दृष्टि का फर्क उनकी कहानियों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता हैं। एक ओर जैनेन्द्र और यशपाल अपनी कहानियों में आधुनिक भाव बोध को सिर्फ अन्त र्वस्तु के स्तर पर लाते हैं जबकि

उसका शिल्प वही पुराना रहता है। मार्कण्डेय ने लिखा है कि यशपाल ने ज़ाहिरा तौर पर जीवन की जिन परिस्थितियों का चुनाव किया, वे प्रगतिशील तो थीं लेकिन उनसे कहानी की मूल प्रकृति पर कोई प्रभाव नही पड़ा।[४] ठीक यही बात वे जैनेन्द्र व अज्ञेय के बारे में कहते हैं। लेकिन भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में अंतर्वस्तु के साथ रूप में भी परिवर्तन होता चलता हैं।

भुवनेश्वर की कहानियों में आधुनिकता का परिप्रेक्ष्य-

भुवनेश्वर प्रसाद ने अपनी कहानियों में सामाजिक जीवन की विद्रूप स्थितियों और व्यक्ति मन के द्वन्द्व को रेखांकित करने का प्रयास किया। भुवनेश्वर की सभी कहानियां मध्यवर्ग के संघर्षों और तनावों को व्यक्त करती हैं। वस्तुतः किसी भी परिवर्तन में संस्कृति की विडम्बनाओं को न तो उच्च वर्ग भोगता है और न निम्न वर्ग। सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति मनुष्य की पारस्परिक विसंगतियों को मध्यवर्ग ही भोगता है। भुवनेश्वर ने संस्कृति पर संक्रमण का यह प्रभाव भोगा था। इसीलिए वे मध्यवर्गीय आर्थिक विपन्नता और अर्थहीन हो चुके संस्कारों की जकड़बन्दी को सूक्ष्मता से रेखांकित करते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों में घटना नहीं है। 'लड़ाई', 'मास्टरनी', 'सूर्यपूजा' व 'एक रात' कहानियों में घटना नहीं वरन्

क्षण हैं। जिनके विस्तार को कहानी तक खींचा गया है। वे क्षण को पकड़ते हैं। उसके अन्दर की कड़ुवाहट और विद्रूपता को मार्मिक ढंग से पाठक तक पहुंचाते हैं। उन्हे कहानी में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने की जल्दी नही वरन् यह काम वे पाठक पर छोड़ देते हैं।

हिन्दी साहित्य में अस्तित्ववाद का जो प्रभाव सन् 1960 के बाद दिखाई देता है, भुवनेश्वर की चौथे दशक की कहानियों में स्पष्ट रुप से देखने को मिलता है। जीवन का व्यर्थता बोध, परिवेश का संत्रास, ऊब अकेलापन, मृत्युबोध आदि ऐसे तत्व हैं जो आश्चर्यजनक रुप से भुवनेश्वर की कहानियों में एक परिपक्वता के साथ मिलते हैं। वे हेडेगर के तर्क - जीवन स्थितियां क्योंकि जीने लायक नही है और पूरी व्यवस्था मनुष्यके लिए व्यर्थ है- को समझते हुए व्यवस्था की व्यर्थता से अपनी संवेदना को जोड़ चुके थे। वे जान चुके थे कि इस व्यवस्था में एक व्यक्ति सिर्फ व्यक्ति रह जाता है। वह वही करता है जो सब करते हैं उसका अपना कुछ नहीं बचता। विज्ञान के तर्कों के आगे उसकी संवेदना मूक और भोथरी हो जाती है। धीरे -धीरे वह भी गर्क होती व्यवस्था का हिस्सा बनकर रह जाता है, और अपने आपको व्यर्थ सा पाता है। 'सूर्यपूजा' कहानी का पात्र विलास कहता है- " डाक्टर, यह तो नरक है नरक! यह मुर्दों की बस्ती है! -- डाक्टर क्या यह

मुमकिन है कि इस मशहूर शहर में हजारों आदमी सिर्फ खाने पीने ओर सोने के लिए जिंदा हैं।--- थोड़े से क्लर्क, दुकानदार, दलाल, अफसर हैं, बिलकुल वैसे ही--- यह इतनी डुप्लीकेट कापियॉ आखिर क्यों हैं?'' [५] कहानी का यह हिस्सा व्यक्ति के ' भीड़ मे से एक ' बन जाने के दर्द को व्यक्त करता है। यह उस युग की भी पीड़ा थी जब भुवनेश्वर लिख रहे थे उन्हे लगने लगा था कि यह व्यवस्था तरह तरह के सवालों में उलझ गई है। लोग लाशों की तरह सड़ गल रहे है और एक 'कूर कांस्पिरेसी' के तहत सबका खून पानी होता रहता है। [६] ' तांबे के कीड़े' नामक अपने नाटक में वे शरीर को मृत्यु और नाश की 'निर्दय केमिस्टी' कहते हैं। यह बात सीधे-सीधे किर्केगार्द के अस्तित्ववाद से जुड़ती है। आश्चर्य जनक सच है कि उस समय हिन्दी साहित्य में किर्केगार्द को कोई जानता भी न था। उस वक्त हिन्दी साहित्य रुमानी और मार्क्सवादी अन्तर्विरोधों से जूझ रहा था । भुवनेश्वर जीवन और रचना दोनों स्तर पर अकेलेपन से जूझ रहे थे, लिख रहे थे, छप रहे थे साथ ही वे विश्व संवेदना को भी व्यक्त कर रहे थे ।

शायद इसी अर्थ में प्रेम चन्द ने भुवनेश्वर को आने वाले कल का लेखक कहा था।[७] वे समय से परे जाने वाले लेखक है । समय से परे जाने वाला लेखक

सामयिकता को चेतना के स्तर पर लेता है। वह जानता है कि वर्तमान जिस रूप में सामने हैं इसकी जो सच्चाइयॉ हैं , वे इससे भिन्न नहीं हो सकतीं। वर्तमान को लेकर उसके सामने कोई मुगालता नहीं रहता। इसलिए इसके सीधे साक्षात्कार के लिए वह स्वीकृत तन्त्र को तोड़ता है , आने वाले खतरों से सीधे भिड़ता है और सम्भावना के बजाए यथार्थ के ठोस धरातल पर स्थिर होना चाहता है। इस प्रक्रिया में रचनाकार का समय से भावात्मक लगाव खत्म हो जाता है और वह निर्ममता पूर्वक तन्त्रों को तोड़ते हुए समय से परे जाता है। भुवनेश्वर की कहानियों में समय का टूटना लगातार दिखता है। 'भेड़िए' समय से भावात्मक लगाव के खत्म होने की ही कहानी है।

भुवनेश्वर की कहानियों का यदि उनके लिखे जाने के कम में अध्ययन करें तो वे लगातार समय से दूर जाते प्रतीत होते हैं। समय से दूर जाने की यह प्रकिया रचनाशीलता के साथ-साथ उनके जीवन से भी जुड़ी हैं। उनकी बेसरोकारी लगातार बढ़ती जाती है। 'मौसी' (1934) में यह बेसरोकारी सबसे कम और 'सूर्यपूजा'(1939) जीवन से ही बेसरोकारी की कहानी है। 'मौसी' से 'सूर्यपूजा ' तक की यह यात्रा भुवनेश्वर की जीवनयात्रा भी है। परिवार की टूटन , ममत्व के विछोह से लेकर मृत्युबोध तक सब कुछ उन्होंने खुद भी झेला था।

भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में आधुनिकता बोध स्पष्ट झलकता है। यद्यपि यह सुखद संयोग है कि बहुत से लोग यह मानने को तैयार नहीं हैं कि भुवनेश्वर प्रसाद की ये कहानियां तीस चालीस के दशक में लिखी गईं। हिंदी कहानी में जिस आधुनिकता- बोध की चर्चा सन् '50 के बाद शुरु होती है उसका परिपक्व रुप हमें भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में मिलता है। विजय मोहन[1] सिंह ने भुवनेश्वर को पहला आधुनिक कहानीकार माना है।[2] दर असल भुवनेश्वर विश्व परिदृश्य से प्रभावित थे। वे अपनी संवेदना को विश्व की संवेदना से जोड़ चुके थे। इसी लिए उनकी कहानियां तत्कालीन हिन्दी कहानियों की प्रवृत्तियों से न तो मेल खाती हैं और न ही तत्कालीन मानदण्डों पर उनकी आलोचना सम्भव हैं।

आधुनिक ता बोध की जितनी गहरी पकड़ उनकी कहानियों में मिलती है वैसी उनके किसी समकालीन कहानीकार में नहीं प्रतीत होती है। ' मौसी ', 'हाय रे मानव हृदय', 'लड़ाई', 'एक रात', 'मास्टरनी', 'भेड़िए', 'मां-बेटे', और 'सूर्यपूजा', कहानियां लगातार जटिलतर होती परिस्थियों, जीवन स्थितियों, नैतिकता और सामाजिक मूल्यों की निर्मम आलोचना है। भुवनेश्वर ने बड़े पैने अन्दाज में बदलती हुई परिस्थितयों का आकलन किया है। आधुनिकता को ,

उसकी चीख और आतंक को भुवनेश्वर प्रसाद ने अपनी कहानियों में अपेक्षाकृत व्यापक फलक पर चित्रित किया है। इस व्यापकता और समग्रता के कारण उनकी कहानियों का रुप परम्परागत तो नहीं ही रहता वरन् इतना बदल जाता है कि कहानी की प्राथमिक शर्त 'कथारस' ही नहीं रहता। इसके बावजूद कहानी के रुप पर अधिक फर्क नहीं पड़ता क्योंकि वे इस कमी को अपने शिल्प द्वारा पूरा कर देते हैं।

भुवनेश्वर के यहां आधुनिकता के प्रति सदैव स्वीकृति का भाव नहीं है। वे आधुनिकता को मूल्य के तौर पर स्वीकार नहीं करते, वरन् उसके परिणामों की ओर निर्भय दृष्टि से देखते हैं। वे आधुनिकता को दृष्टि मानकर ही चले हैं। इसीलिए वे किन्हीं नये मूल्यों को स्थापित करने की जल्दबाजी नहीं दिखाते वरन् अपनी दृष्टि से आधुनिक युग की आलोचना भर करते हैं। विज्ञान-युग, पूंजी वाद की ओर बढ़ रहे समाज में क्षीणतर होती मानवीय संवेदना उनकी सबसे बड़ी चिंता है। वे कांटे से कांटे को निकालने की तर्ज पर आधुनिकता के भ्रम जाल को तोड़ने के लिए आधुनिक रचना दृष्टि को हथियार बनाते हैं। मानवीय मूल्यों या जीवन- मूल्यों को बदलना उनका ध्येय नहीं वरन् वे उनके क्षरण से चिंतित हैं।

उपर हमने भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों का उस परिप्रेक्ष्य में विवेचन किया जिसमें वे लिखी गईं। अब हम भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों का आधुनिकता बोध के उन बिन्दुओं के सन्दर्भ में विवेचन करेंगे जो कि उनकी कहानियों को आधुनिक भाव-बोध और संवेदना के निकट पहुंचाते हैं। समय बोध, मनोवैज्ञानिकता, मानवीय सम्बन्ध, मृत्युबोध और अरागात्मकता वे बिन्दु हैं जिनका उपयोग आगे के विवेचन में किया गयाहै।

समय बोध

भुवनेश्वर की कहानियां सतही तौर पर अपने समय से कटी हुई लगती हैं। वहॉ राष्टीय आन्दोलन के किस्से या मनगढ़त 'हीरो वरशिप' नहीं है। यथार्थ का बाह्य रुप वहॉ नहीं है। तत्कालीन जीवन स्थितियों के अन्दरुनी बदलाव ही उनकी कहानियों के प्रतिपाद्य हैं। वे अपने वर्तमान के यथार्थ को सूक्ष्मता से पकड़ते हैं, उसकी विसंगतियों को उघाड़ कर प्रस्तुत कर देते हैं स्थूल यथार्थ को वे न के बराबर तरजीह देते हैं। 'लड़ाई' 1936 में वे कुछ संवादों और कुछ हरकतों द्वारा अपने समय सन्दर्भ को पूरी तरह स्पष्ट कर देते है। पूरी कहानी ट्रेन के एक कम्पार्टमेंट में चन्द घंटो मे कुछ यात्रियों की बातचीत व किया कलापों को दर्शाती है। ये बातचीत और किया कलाप ही वे सूक्ष्म सूत्र हैं जो उन्हें बाह्य ययार्थ

से जोड़ते है। गोरखा सोल्जर, खददर पोश,स्टूडेंट, एक महिला, उसका पति व एक बच्चा यात्री है। सभी की अपनी-अपनी दुनिया है। सभी की अपनी- अपनी चिंताएं भी है। सभी अपनें-अपने हित साध रहे है। लेकिन एक बिन्दु पर वे एक साथ हैं , अपनी-अपनी संगतियों-विसंगतियों के साथ। यह कहानी 'इन्दर की बउ के बप्पा' के खतौली में होने या न होने से लेकर 'गांधी जी की गर्दी' और फिर प्रथम विश्युद्ध तथा दूसरे की सम्भावना तक पूरे विश्व परिदृश्य को एक साथ समेटती है। अपने समय की सम्वेदना की यह कहानी निहायत बड़े कैनवास के चित्र को बड़ी बरीकी से सिर्फ दो पेज में उकेरती है। एक अन्य कहानी 'सूर्यपूजा' (1939) भी दूसरे विश्वयुद्ध से ठीक पहले के भय, संत्रास और ऊब को दर्शाती है। ' मां - बेटे' में भी मध्यवर्गी संयुक्त परिवारिक इकाई के टूटने के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का चित्रण हुआ है। 'भेड़िए ' दर्शाती है कि कैसे एक व्यक्ति '70 के आस पास होने और एक उम्र की गरीबी के सबब से ' तथा किन परिस्थितियों से उसके चहरे पर एक 'अनहोनी' , 'दूरूह' और 'दुर्भेद्य' कठिनता आ जाती है। वह कौन सी जीवनचर्या है जिसमें लगातार जीने के बाद एक मनुष्य का मुंह उतना ही अमानुषीय और निर्दय हो जाता है जितना कि चूहेदान। भेड़ियों से खारू की भिंडत की यह कहानी जीवन संघर्ष में मनुष्य के अमानवीकृत होते जाने की कहानी है। 'मास्टरनी'

कहानी में भी भुवनेश्वर ने विषम परिस्थितियो में जी रही लूसी की कहानी कही है। इस कहानी में भी कोई घटना नहीं वरन् कुछ क्षण हैं जिसमें लूसी अपनी उब और घुटन को अपने भाई टुटू के सामने व्यक्त कटती है। आधुनिक युग में सम्बन्धों का एक पक्ष आर्थिक भी होता है, 'मास्टरनी' में इस पक्ष को भी उजागर किया गया है।

ख- मानवीय संबन्ध

भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियों में मानवीय सम्बन्धों को यथार्थ के धरातल पर उकेरा गया है। ' मौसी ' 'हायरे मानव हृदय' 'एक रात ' 'मां - बेटे ' 'भेड़िए ' और 'मास्टरनी' सभी कहानियों में मानवीय सम्बन्धों के भिन्न -भिन्न रुप देखने को मिलते हैं। एक ओर 'मौसी' में बिब्बो का 'बसन्त' और उसके पिता से सम्बन्ध है। ' हाय रे मानव हृ दय ' में रहस्यमय औरत का वृद्ध रोगी से सम्बन्ध है, ' एक रात ' में प्रेमा का केशव तथा अपने पति से सम्बन्ध है, 'भेड़िए ' में खारु और उसके बाप का सम्बन्ध है, 'मास्टरनी ' में लूसी का टूटू से, मुरली से, मां और पिता से सम्बन्ध है। इन सभी सम्बन्धों में एक खास बात इन सम्बन्धों की संवेदनात्मक विडम्बना है। मध्यवर्गीय और निम्न मध्यवर्गीय आर्थिक विडम्बना और

संस्कारगत जकड़न के कारण यह संवेदनात्मक विडम्बना उत्पन्न होती है । 'मौसी ' कहानी में आर्थिक रुप से विपन्न बिब्बो , विपन्नतर होते हुए भी ,पहले बसन्त को फिर उसके पुत्र को पालती है। इसका कारण है बसन्त के पिता से उसका भवनात्मक सम्बन्ध। इस आर्थिक जगत में जहॉ बसन्त के बड़े और नौकरी पेशा होते ही 'पर ' लग जाते हैं, और एक दिन फिर जरुरत पड़ने पर सामने आ खड़ा होता है , मौसी को पैसे देकर अपने बच्चे का पालन-पोषण करवाना चाहता है। वहॉ मौसी अपने भवनात्मक सम्बन्धों को मरते समय तक सहेज कर रखना चाहती है , एक चित्र की तरह सीने से लगाये रखती है। 'हाय रे मानव हृदय ' की रहस्यमय स्त्री भी जो 17 वर्ष पहले एक बच्ची को छोड़ कर एक सारंगी वाले के साथ भाग गई थी, अपने पूर्व पति की बीमारी के बारे में जानकर डॉक्टर को बुला लाती है यहॉ भी संवेदना का तन्तु वर्षो बाद भी दोनों को जोड़े रहता है। 'मास्टरनी ' कहानी में लूसी द्वारा अपनी मां ,भाई , बहन और पिता की जरुरतों को लगातार पूरी करते रहने के लिए ही जीना उसकी संवेदनात्मक विडम्बना ही है। मुरली के मोजे , मम्मी का सिंगार दान और घर की छोटी मोटी जरुरतों को पूरा करने में ही वह पीली , चिड़चिड़ी और अधेड़ हो गई है '' सुनो यह पांच रुपये हैं और यह मुरली के स्टाकिंग और यह मम्मी का सिंगार दान । और

कहना कि कोई मुझसे और कुछ न मांगे , सब मर जाएं , गिरजे में जा पड़े , वह पागलों की तरह दो छोटे- छोटे और बोल ऐसे रही थी जैसे उसका सारा खून जम रहा हो '' [९] यहॉ लूसी की आर्थिक विपन्नता और विवश्ता का बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत है। शायद हर बार ममी , मुरली और टुटू की जरुरत पूरी करने के बाद वह यही कहती है- ' मैं -- मैं कहती हूँ , वह गिरजे में जा पड़े , मिशन में मरें ''। [९०] एक छोटे से ईसाइयों के गॉव में स्कूल चलाने वाली मास्टरनी आर्थिक विपन्नता और परिवार से उसके भावात्मक लगाव को यह कहानी जीवन्तता के साथ चित्रित करती है। यहॉ पारिवारिक सम्बन्धों का एक पक्ष यह भी उजागर होता है। कि ''पापा रोगी परित्यक्त उपेक्षित-उसे कभी न लिखते थे ओर इसीलिए कुछ मांगते भी न थे।'' [९९] परित्यक्त, उपेक्षित, और रोगी पिता, बेरोजगार भाई, मां और बहन मुरली की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह स्वयं को गला रही है। 'मास्टरनी' होने के साथ- साथ लूसी अर्थोपार्जन के अन्य माध्यम का भी उपयोग कर रही है। लड़कियों द्वारा लाए गये नाश्ते की प्लेट में 'ब्रूच' का होना और अधेड़ किसान को आने पर लूसी द्वारा दौड़ कर द्वार की ओर जाना तथा बाहर से ही उसे विदा कर देना ऐसे संकेत है जिनसे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि

लूसी आर्थिक विपन्नता के आगे घुटने टेक चुकी है। उसकी कुंठा कहानी के अन्त में इन शब्दों में व्यक्त होती है। ''मैं ही क्यों ... तुमसे मुझे कोई सरोकार नहीं- तुम लोगों से मैं पूछती हूँ' ... और वह हथेलियों को बगल में भींच कर और तेजी से टहलने लगी। 'मैं जिन्दा दफना दी गई हूँ पर मूझे कब्र में तो शांति दे दो।' वह वाकई हाथ फैला कर शांति मांग रही थी।'' [१२]

एक ओर पीड़ा और कुंठा से भरी हुई लूसी है। तो दूसरी ओर भुवनेश्वर ' मां- बेटे ' में अतृप्त इच्छाओं से भरी हुई अम्मा के चरित्र का सृजन करते है, जो मर रही है और अपने परिवारजनों की ' बेमतलब और शर्मनाक असफलता 'को जान रही थी '' अम्मा ने इन सबके लिए गहरे रंगों के पैर्टन बनाये पर वह सब टूट गये। इनमें से एक भी उसके नजदीक उसका न था '' [१३] दो बेटी, दो बेटों बहुओं और नाती पोतों से भरे पूरे परिवार में वह मरते वक्त किसी एक को खोजने की कोशिश कर रही है जो उसका अपना हो लेकिन वहाँ ऐसा कोई नहीं है।

भुवनेश्वर इस कहानी में पारिवारिक टूटन और आर्थिक लाचारी को भी रेखाकिंत करते है। '' बड़ी ने गोद में लेटे हुए लड़के के मुंह में दूध देते हुए जानकारी से कहा - हॉ सिविल सर्जन को बुलाओ , लाला ! ---- कितना लेगा बहू

बड़ा लड़का बोला - बड़ा डॉक्टर कोई परमात्मा है ? और फिर सब चुप हो गए। अम्मा ने पूरा - पूरा सुना और जान लिया कि बड़ा डॉक्टर परमात्मा नहीं है।''[98]

भुवनेश्वर ने यहाँ बड़े संश्लिष्ट रुप से परिवार की आर्थिक विपन्नता को रेखांकित किया हैं साथ ही वे संवेदना के अभाव और पारिवारिक बिखराव को भी उकेरते हैं।

आधुनिक युग में 'व्यक्ति की पहचान ' के कारण सम्बन्धों में परम्परा से चली आती लोच खत्म हो जाती है, जो संयुक्त परिवार के टूटने का कारण बनती है। सभी अपने 'व्यक्ति' को स्थापित करने का प्रयास करते हैं , परिणामतः पारिवारिक कलह उत्पन्न होती है साथ ही सम्बन्धों में निरपेक्षता का भाव भी पैदा होता हैं। 'मां-बेटे' में अम्मा के प्रति पूरे परिवार में एक निरपेक्षता का भाव भी है। अम्मा मर रही है फिर भी सब कार्य व्यापार चल रहा है। भाइयों के बीच खिंचाव बरकरार है। बहुऐं ताने बाजी से नही चूक रही। यद्यपि सब अम्मा की चारपाई घरे बैठे हैं तथापि वे सब 'उसके लिए तैयार हैं या हो रहे हैं जो होता आया है '। जीवन और मौत के तीन दिन से चल रहे संघर्ष में सबको मौत के जीतने की प्रतीक्षा है। कहने का आश्य यह है कि अम्मा की ओर से पूरा परिवार निरपेक्ष हो चुका है। वे सब

समाज में बंधे होने के कारण सिर्फ दवा दारू की रस्म अदायगी कर रहे है। भुवनेश्वर इस कहानी मे एक अन्य स्तर को भी छूते है जो कि उनकी मनोवैज्ञानिक ऐप्रोच को प्रदर्शित करता है।

मनोवैज्ञानिक ता

भुवनेश्वर की रचना दृष्टि पर फायड के मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव था। अपनी कहानियों वे सम्बन्धों को 'सेक्स' की दृष्टि से देखते हैं। फायड के अनुसार मनुष्य की मानसिक संरचना के तीन घटक हैं- चेतन, अवचेतन और अहम्। उनके अनुसार " अवचेतन का चेतन दुनिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसकी समस्यायें सामाजिक आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न नहीं होतीं। हमारे सामाजिक आर्थिक जीवन से अलग अवचेतन की एक पृथक दुनिया होती है जो काम चेष्टा की अतृप्ति का परिणाम है। यह प्रवृत्ति जन्म से ही मनुष्य के व्यक्तित्व का अंग होती है। यही अवचेतना मनुष्य के स्वभाव को निर्धारित करती है।" [१७] फायड मानता है कि मानव प्रवृत्ति एक दम पशु प्रवृत्ति के समान होती है क्योंकि आदिम स्थिति में जब समाज का संगठन नहीं हुआ था और मनुष्य पशु-पक्षियों की तरह स्वतन्त्र था, तब वह मुक्त था लेकिन

सामाजिक संगठन के साथ ही वह नियमों-मूल्यों में बंधता गया और उसकी काम चेष्टा अधूरी रह गई। मनुष्य अपने अवचेतन में उन्ही आदिम प्रवृत्तियों का अनुभव करता है जो कि उसके लिए विकसित समाज में असंभव है। वे अपनी कहानियों में इस दृष्टि का उपयोग करते हुए स्त्री- पुरुष में सिर्फ काम सम्बन्ध को ही प्रदर्शित करते हैं। यहॉ तक कि वे 'मां- बेटे' कहानी में 'अम्मा' और बड़े लड़के के बीच भी अम्मा के मरते समय उसकी अतृप्त रह गई कामेष्णा को बहुत बारीकी से रेखांकित करते हैं --'' अचानक अम्मा ने पाया अपने अन्दर एक पुरानी पहचानी हुई लपट को तीर की तरह सब तरफ से घुसते हुए। उसने जाना था कि यह लपट हमेशा के लिए बुझ गई है, पर इस वक्त इस समूचे संग्राम के वक्त इसके (बड़े लड़के के) छू भर जाने से वह पुरानी लपट उसके रोएं रोएं में नाच उठी और अब सारा संग्राम उस लपट की ओर मुड़ गया। बड़ा बेटा कांपती हुई अम्मा को मजबूती से थामकर उसके बिलकुल नजदीक आ गया था, यहॉ तक कि उनके सीने मिल गये और वह लपट तेज हो गई और क मर के नीचे के हिस्से में बढ़कर पिंडलियों में चक्कर काटने लगी। ''[१६] भुवनेश्वर का यह विवरण भारतीय या मानवीय दृष्टि से भले ही कुत्सित और घिनौना लगे लेकिन

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सच है क्योंकि फ्रायड के अनुसार ' अवचेतन का चेतन की दुनियां से कोई सम्बन्ध नहीं होता ' और मां- बेटे का सम्बन्ध पूर्णतः चेतन दुनिया का सामाजिक सम्बन्ध है । काम की अतृप्त अभिलाषा का सम्बन्ध अवचेतन से होता है । ' मां-बेटे ' की की अम्मा के मरते वक्त का विवरण उसकी अवचेतन स्थिति को स्पष्ट कर देता है। उसके मस्तिष्क में बीते जीवन की बहुत सी यादें घूमने लगती हैं - " वह दूर -दूर की बातें सोचने लगी। बेमतलब , बेजोड़ , कोई मकान , कोई कभी देखा हुआ आदमी , वह अजीब आवाजें सुनने लगी ' [१७]

कोमा की स्थिति में व्यक्ति सम्बन्धों को भूल जाता है और अवचेतन में ही जीता है। यहॉ पर एक बात और ध्यान देने की है कि भारतीय समाज में जहॉ स्त्री के लिये बहुत सी वर्जनाएं होती हैं वहॉ एक विधवा वृद्धा के अवचेतन में काम की अधूरी रह गई लालसा का कोमा स्थिति में जाग्रत हो जाना अस्वाभाविक भी नहीं है। भुवनेश्वर की भाषा ने' मां-बेटे 'में इसे बिना अश्लील बनाए और भी स्पष्ट रुपसेयहॉ तक कि स्पर्श की हद तक चित्रित किया हैं। -- "उसने मुश्किल से अपने कमजोर हाथ उठाए और एक प्रेत के स्पर्श की तरह उसकी पीठ सहलाने लगी। सारा संग्राम खत्म हो चुका था, सिर्फ उसके कमजोर मरते हुए हाथ एक 'अन्दर की

प्रेरणा' से बेटे की पीठ पर घिसटते रहे और फिर धीरे-धीरे मर गये ।''[१८] यहॉ भुवनेश्वर अम्मा की मृत्यु को बड़ी बेसरोकारी और निर्ममता से चित्रित करते हैं। भुवनेश्वर को मनोविज्ञान की अच्छी समझ थी । वे स्त्री - पुरुष को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं उनका एकांकी 'स्टाईक' इसी दृष्टि को स्थापित करता है , साथ ही वे स्त्री को रहस्यात्मक रुप में भी प्रस्तुत करते हैं तथा उसे 'न समझ में आने वाली चीज' के रुप में देखते हैं, व्यापक रुप से यह दृष्टि सन् 1960 के बाद धूमिल राजकमल चौधरी के यहॉ देखने को मिलती है । प्रेम और सेक्स के पीछे की एक-एक संवेदना और आन्तरिक हलचल का भुवनेश्वर ने अपनी कहानियों में प्रयोग किया है। उन्होंने स्त्री के अनेक के बड़े ही संश्लिष्ट चित्र अपनी कहानियों में प्रस्तुत किए हैं। ' मौसी ' में विधवा बिब्बो का अपने भतीजे के प्रति अनुराग का कारण कहानी के अन्त में खुलता है जहॉ वह उसके पिता का चित्र सीने से लगाये मृत पड़ी है। ' हाय रे मानव हृदय' में भी कहानी दूसरे स्तर पर तब खुलती है ,जब कहानी का 'मैं'अंत में जान पाता है कि रहस्यमय स्त्री दरअसल उस वृद्ध रोगी की ही पत्नी है जो 17 वर्ष पहले किसी सारंगी वाले के साथ भाग गई थी । इन दोनों कहानियों को पढ़ते हुए अन्त में पंहुच कर पुनः पढ़ने की इच्छा जाग्रत हो उठती है,

क्योंकि दोनों ही कहानियां अंत तक पंहुचने पर एक नये स्तर पर खुलने लगती हैं। दोनों ही कहानियों में स्त्री के चरित्र को आवरण में रखते हुए भुवनेश्वर अन्त में एक सूत्र मात्र छोड़ कर स्त्री के पूरे चरित्र को एक प्रश्नवाचकता दे देते हैं। एक अन्य कहानी 'एक रात' में भुवनेश्वर ने स्त्री पात्र 'प्रेमा' को अपने पूर्व प्रेमी से 5 वर्ष बाद पति की अनुपस्थिति में मिलने पर उसका पूर्वानुराग पुनः जाग उठता दिखाया है परन्तु किसी की पत्नी होने के नाते उसके संस्कार उसे नही छोड़ते और वह कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर लेती है फिर भी उसके अन्दर का प्रेम निम्न संवादो में उभर कर आता है -'' मैं सोती हूँ तुभ भी सो जाओ, बिस्तरा बिछा लो, नौकर कोई न आएगा।

केशव -'' चुप।''

प्रेमा -''सो गऐ।''

केशव -'' प्रेमा।''

प्रेमा -'' सो जाओ,''

केशव - (भावुकता से) ''प्रेमा यहॉ आओ ''

प्रेमा -'' हम तो सो गऐ''

केशव -'' मुझे नींद नहीं आ रही, आओ कुछ देर बातें करें।''

"क्या बाते करें ?" प्रेमा ने सम्पूर्णः जाग्रत स्वर में कहा - "कुछ" -केशव ने यन्त्रवत् दोहराया।

"नही ", फिर कुछ रूक कर कहा "मैने अपनी साड़ी उतार दी हैं।" केशव चुप , उसे चुप रहने का कारण मिल गया।" [१९] यहॉ प्रेमा कुछ भी स्पष्ट न कहकर अपना मन्तव्य स्पष्ट कर देती हैं। और बाद में अपने पति के वापस आने पर सच्चरित्रता का स्वांग करते हुए केशव को भूल जाती है।

घ - मृत्युबोध -

भुवनेश्वर जिस समाज में पले-बढ़े थे वह मध्यवर्गीय समाज था। उसकी परिस्थितियों, संस्कारों,विडम्बनाओं और उसकी टूटन को वे बखूबी पहचानते थे। वे जानते थे कि आधुनिक चेतना और सामाजिक संस्कारों के बीच झूलते मध्यवर्ग की यह स्थिति आगे आने वाले समय में और भी विषम हो जाएगी। इसलिए वे समय से परे जाकर उन स्थितियों और विडम्बनाओं को भी चित्रित करते हैं जो उनके लिखने के काफी समय बाद ही साहित्य में दर्ज हो सकी। जो विडम्बनाएं टूटन और घुटन, त्रास और मृत्युबोध तथा मोहभंग सन् 60 के बाद हिन्दी साहित्य में दिखाई देता है उसे भुवनेश्वर अपने समय के समाज में भी देख

रहे थे। एक विश्व युद्ध से उबर कर भारतीय बुद्धिजीवी अभी थिर हो भी नही पाया था कि स्वतन्त्रता संग्राम में गांधी वादी आन्दोलन की विफलता और एक अगले विश्वयुद्ध की भयावह आशंका से वह पीड़ित हो उठा। उसका जीवन से विश्वास लगातार उठता जा रहा था एक घुटन और मोहभगं की स्थिति जिसमें वह 40 के दशक में ही पंहुच गया था। भुवनेश्वर ने इस घुटन और उब को पहचाना था। विज्ञान के उस आधुनिक तर्कशीलता के युग में वे अपने युग की सीमाएं भी पहचान रहे थे। वे जानते थे कि तर्क की भी एक सीमा के बाद कोई अर्थवत्ता नही रह जाती। कारवॉ में वे लिखते हैं कि 'तर्क और विवेक तीसरी श्रेणी के कलाकारों के चोर दरवाजे हैं'।[२०] 'सूर्यपूजा' कहानी में वे इसी तर्कबुद्धि की सीमाओं को रेखांकित करते हैं। विज्ञान और तर्क मानव जीवन को इतना मशीनी बना देते हैं कि वहॉ मानवीय मूल्यों और भावनाओं के लिए जगह नही रह जाती। तर्क इन सब को गर्क कर देता हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति में कुंठा और अकेलेपन की भावना जग्रत होती हे जो अपने चरम पर पंहुच कर अजनबीपन और मृत्युबोध में परिणित होती है।

भुवनेश्वर की कहानी 'सूर्यपूजा' '1939' इसी मृत्युबोध को दर्शाती है। विलास के लिए सारी दुनिया मर चुकी है-"क्या यह मुमकिन है कि मनहूस शहर में हज़ारों आदमी सिर्फ खाने - पीने और सोने के लिए जिन्दा हैं। अंधेरा, कीचड़,आंधी, बारिश चारो तरफ देखो,कहीं जीवन का हल्का सा भी इशारा है! नहीं! घूम कर देखो कोई यह यकीन करेगा कि यह एक शहर है जहॉ अदमी रहते हैं- जिन्दा पूरे-पूरे मनुष्य जो लायबेलिटी कही जाती है? वह क्यों जिन्दा है? माताएं प्रसव की मुसीबत आखिर क्यों झेलती हैं? कल्पना करो कि यह बस्ती गारत हो गई। इसका नामोनिशान मिट गया। गोबर की चोथ की तरह बारिश ने घुला कर बहा दिया। कोई जानेगा भी नही कि घूरे पर गोबर का चोथ नहीं रहा।"[२१] जीवन के बारे में विलास का यह दृष्टिकोण निराशावादी लगता है लेकिन वह निराशावादी नही वरन् सारी स्थितियों को देखकर क्षुब्ध है। वह अकेला है क्योंकि 'दुनिया की दुकानदारी' में उसका कोई साझा नही रहा। वह जीवन की एकरसता और मशीनीपन से उब गया है - " थोड़े से क्लर्क, दुकानदार,दलाल अफसर - और हर एक शहर में बिल्कुल ऐसे ही क्लर्क, दुकानदार और अफसर हैं, बिल्कुल वैसे ही! यह इतनी डुप्लीकेट कॉपियां आखिर क्यों हैं?[२२] वह महसूसता है कि यह निस्पन्द

जीवन सभी को धीरे- धीरे गला रहा है वह अपने डॉक्टर मित्र से कहता है -"क्या तुम महसूस करते हो कि तुम जिन्दा होते हुए भी एक लाश की तरह धीरे - धीरे गल रहे हो ? we all are decaying with little patience, little patience..."[२३]

जीवन और उसकी बिडम्बनाओं को इस दार्शनिक स्तर पर भारत में पहली बार शायद भुवनेश्वर ने ही समझा था । ' जीने के लिए मकसद ' की खोज भी यहीं से शुरु होती है । विलास कहता है कि "नहीं मालूम , मुझे नहीं मालूम - जब तक जिन्दगी से कोई compelling contract कोई कैसे जिन्दा रह सकता है ! "[२४]

यहॉ अनायस ही धूमिल की ' मोचीराम' की ये पंक्तियां याद आ जाती है

"और बाबू जी ! असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नही है
तो रामनामी बेच कर या रण्डियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है।[२५]

जीवन जीने के लिए मकसद की तलाश भुवनेश्वर की अपनी भी थी । जिस तरह का 'बोहीमियन' जीवन उन्होंने जिया उसमें इस मृत्युबोध के सिवा कुछ न

मिलना स्वाभाविक था लेकिन एक compelling contract विलास और भुवनेश्वर दोनों में मिलता है। दोनो ही संघर्ष कर रहे हैं। दोनों ही नियति के मुंह पर थूककर जीवित थे। 'सूर्यपूजा' का विलास कहता है कि बावजूद इसके ' दुनिया की दुकानदारी'में उसका साझा नहीं रहा ,यह दुनिया विलास को नही चाहती ' पर विलास इसी दुनिया के अनगिनत प्रोलिटे प्रोलीतरीयत को प्यार करता है , क्योंकि उसे जीना है, जिन्दा रहना है। "हमें जीना है , जरूर जीना है,रात का जश्न खत्म हो गया ,सुबह को कागज की कन्दीलों की तरह हम लोग,बुझे हुए फर्श पर पड़े है पर देखना हम लोग फिर जल उठेगें डाक्टर ! " [२६] विलास की यह आशा ही वह compelling contract- है जो उसे ऊब और घुटन में भी जिन्दा रखे हुए है। वह एक स्वप्न दृष्टा की भांति म्यूनिसपैलिटी की लाल , धुंएदार लालटेन की रोशनी को नई दुनिया की रोशनी बताता है और सूर्यपूजंकों की सी मुद्रा में पैर मोड़कर हाथ जोड़ता है। यहॉ आते - आते मृत्युबोध की यह कहानी एक उस नई दुनिया की शुरूआत की भी कहनी बन जाती है जिसमें तर्क और विवेक की कोई जगह नहीं। मानवीय मूल्यों की स्थापना का,दुनिया की बेहतरी का एक स्वप्न साकार सा हो उठता है। इस कहानी के जरिए भुवनेश्वर आधुनिकता की अंधी दौड़ में ,

अंततः उस दुनिया का स्वप्न देखते हैं जहॉ संवेदना , और प्यार ही मनुष्य मात्र का सम्बल बनता है।

अरागात्मकता

भुवनेश्वर की कहानियों में जीवन के प्रति निर्ममता का दृष्टिकोण मिलता है। यह निर्ममता आधुनिकता-बोध की ही देन है । आधुनिक मशीनीकृत मनुष्य की संवेदना इतनी जटिल हो जाती है कि कोई भी भयावह से भयावह स्थिति भी व्यक्ति को संवेदित नहीं कर पातीं क्योंकि वह स्वंय उन स्थितियों को प्रतिदिन झेलता है। इस प्रक्रिया में वह इतना अमानवीय हो जाता है कि नितांत मार्मिक घटना को भी वह बहुत साधारण सी बात की तरह कहता है। रचनाकार भी इस प्रकिया से अछूता नहीं रहता वह भी उसी समाज में रहते हुए, स्थितियों को देखते-झेलते हुए उसकी अभिव्यक्ति नितांत अरागात्मकता और बेसरोकारी के साथ करता है। भुवनेश्वर भी इससे अछूते नहीं हैं। उन्होंने भी अपने दैनिक जीवन में इन स्थितियों को भोगा था। जीवन से बेसरोकारी और अरागात्मकता की चरम परिणित उनकी कहानी ' भेड़िये ' में मिलती है जहॉ ' खारु ' , और उसके बूढे बाप के लिए औरतें भेड़ियों के सामने चारे की तरह डालने की 'चीज ' बन जाती हैं। खारु, बंजारा जो ' जीवन से निपटारा कर चुका था ' मौत उसे नहीं चाहती थी ' ,

'वह समय के मुंह पर थूक कर जीवित था , भी उतना ही बेसरोकार है। यह बेसरोकारी उसे उस मंजिल पर पहुंचा देती है जहॉ वह भेड़ियों के बीच कूदने की तैयारी कर रहे बाप को याद करता हुआ कहता है - '' मेरा बाप बुढ़ापे में बड़ा हंसोड़ हो गया था।''[२७] मानवीय नियति की क्रूरता के बोध की इस कहानी में जीवन से संग्राम करते हुए एक आदमी के इर्द- गिर्द ऐसी विरोधी जटिलताओं को उपस्थित किया गया है जिसमें सारी मानवीय संवेदनाएं निरस्त हों जाती हैं। एक ओर खारू का बूढ़ा बाप भेड़ियों से बचने के लिए बैल खोलने के बजाए नटनियों को भेड़ियों के लिए चारे की तरह फेंक देता है और दूसरी ओर एक बैल के खोल दिए जाने पर उसकी आखों में ऑसू आ गये ' बड़ा असील बैल था -- वह बुदबुदा रहा था '।[२८] इस तरह की विरोधी जटिलता कहानी के अन्त में भी है जहॉ खारू का बूढ़ा बाप भेड़ियों से मुकाबला करने के लिए कूदने जा रहा था। उस समय उसे नये जूतों का ध्यान हो आता है और कहता है--'' मैं नये जूते पहने हूॅ। मैं इन्हें दस साल और पहनता ; पर देखो तुम इन्हें मत पहनना , मरे हुए आदमियों के जूते नहीं पहने जाते , तुम इन्हें बेच देना''[२९] यहॉ मानवीय नियति की क्रूरता का बोध स्पष्ट हो जाता हैं। वह जिन स्थितियों - परिस्थितियों में बंधा हुआ है उनसे वह बच नहीं

सकता ,भाग नही सकता । एक ओर वह जानते बूझते बेटे को बचाने के लिए भेड़ियों के बीच कूद रहा है दूसरी ओर उसे अपने नये जूते याद आ रहे है और साथ ही पुत्र को उन्हें न पहनने और बेच देने की सलाह भी देता है।

उक्त दोनों ही स्थानों पर व्यक्ति के वस्तु में बदल जाने की मजबूरी है और साथ ही उपयोगितावादी दृष्टि भी । जिसे एक इन्सान को भेड़ियों के बीच फेंकने पर कोई तकलीफ नहीं होती ,वही व्यक्ति एक बैल के मरने पर रोता है।

भुवनेश्वर की यह कहानी एक सांकेतिक कहानी है। भेड़िये सामन्ती व्यवस्था का प्रतीक हैं और खारू बंजारा उस व्यवस्था के शोषण का शिकार है। दूसरे अर्थ में भेड़िए मौत है और खारू मनुष्य की आदमी जिजीविषा। दोनों ही अर्थो में भेड़िए के प्रतीक सार्थक और सफल है। कहानी के अंत में खारू का यह कहना कि 'अगले साल ही मैने 60 भेड़िये मारे ' मनुष्य की निरंतर विपरीत परिस्थितियों में जकड़े होने के बावजूद उसकी आदिम जिजीविषा की ओर संकेत करता है।

इस सांकेतिकता को नामवर सिहं ने नई कहानी की एक महत्वपूर्ण विशेषता बताया है- ''सांकेतिकता का सहारा पिछली पीढ़ी के लेखक कभी-कभी ही लेते थे जबकि अब का लेखक अक्सर इसका सहारा लेता है। इससे भी आगे बढ़कर कहा जा सकता है कि पहले की तरह आज की कहानी आधार भूत विचार का

केवल अंत में संकेत नहीं करती बल्कि नई कहानी का समूचा रूप गठन और शब्द गठन ही सांकेतिक है ''[३०] भारत भारद्वज भी इसे सामंती शोषण के विरोध की कहानी मानते हुए लिखते है ''इस कहानी में सामन्ती शोषण के चरित्र को सशक्त रूप में उठाया गया है। दल का दल भेड़िया आता है और खारू और उसका बाप उसका मुकाबला करता है। इस सामन्ती व्यवस्था के विरोध में लोग उठ कर खड़े हो रहे है यही संकेत है इस कहानी का ''[३१]

शिल्प के स्तर पर आधुनिकता - बोध

शिल्प के स्तर पर भुवनेश्वर अपने समय के रचनाकारों से कहीं आगे ठहरते हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, प्रेमचन्द, ने शिल्प के स्तर पर कहानी को आधुनिक नहीं बनाया था। वे पुराने ही रुप गठन में नये मावबोधभरने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन भुवनेश्वर ने नये भावबोध के अनुसार कहानी का शिल्प भी बदला। 'मौसी ' और 'भेड़िए' के अतिरिक्त अन्य कहानियां तो कहानी की मूल-भूत शर्त कथा रस को ही अस्वीकार करती हैं। 'लड़ाई' और 'सूर्यपूजा' तो पूरी तरह से कहानी बिरादरी के बाहर की कहानियां है। इनमें 'कहानी पन' जैसा कोई तत्व है ही नहीं। फिर भी ये अपने में सम्पूर्ण कहानी सा प्रभाव उत्पन करती हैं।

भुवनेश्वर की कहनियों में घटना नहीं हैं। वे यातोघटना हो चुकने के बाद शुरु होती हैं या उन घटनाओं को 'नरेट' करती है। कहने का आशय यह है कि भुवनेश्वर घटना के बजाए उत्पन्न स्थितियों को अधिक महत्व देते है। घटनाओं के संकेत मात्र से ही उत्पन्न स्थितियों को संश्लिष्ट बनाते हैं। वे क्षण को पड़ते है और कहानी के विस्तार तक खींचते है और छोटे छोट तथ्यों , स्थितियों और अनुभूतियों को चुन-चुन कर सजाते जाते हैं। वे स्थितियों में ही कहानी पैदा कर देते है। इसका सटीक उदाहरण उनकी कहानी 'लड़ाई ' है। ट्रेन के एक डिब्बे में कुछ लोग हैं यानी कुछ विचार है जिनका कोई कम नहीं है। फिर भी वह कथनों, स्थितियों और पात्रों की हरकतों से कहानी पैदा कर देते हैं। कथन, स्थितियों और पात्रों की हरकतें एक'कोलॉज'की भॉति एक सामूहिक और सम्पूर्ण प्रभाव पैदा करती है।

भुवनेश्वर मूलतः नाटककार थे। इसलिए उनकी कहानीयों में पर्याप्त नाटकीय दृश्य देखने को मिलते हैं। जहॉ किसी बात को भाषा में कहना मुश्किल हो जाए या शब्द बेमानी हो जाएं वहॉ वे हरकतों का प्रयोग कर उस भाव को , उस बात को स्पष्ट कर देतें हैं। 'लड़ाई ','सूर्यपूजा','मास्टरनी'और 'मां-बेटे' में वे इसी हरकत की भाषा का प्रयोग करतें हैं। ' लड़ाई' में खद्दरपोश का , स्टूडेंट की हर बात पर महारत से मुस्कुराना और स्टूडेंट का धुँएं के लच्छे बनाना तथा 'सूर्यपूजा'में

विलास का लड़खड़ाते हुए चलना और डाक्टर की ऊब और सुबकाना , मास्टरनी के हाथों बगलों मे भींच कर तेजी से टहलना , ऐसी हरकतें है जिनमें पात्रों की मानसिक स्थिति को लम्बे चौड़े बयानों के बिना स्पष्ट किया गया है । इनकी 'मौसी' कहानी को हिन्दी की आदर्श कहानियों में संकलित करते हुए प्रेमचन्द लिखते है कि ''आपकी शैली जैनेन्द्र जी की शैली के रास्ते पर चलती नज़र आती है पर जैनेन्द्र जी की भाषा की शिथिलता इसमें अनुपस्थित है ।इनकी कहानी में घटना कम मनौवैज्ञानिक परिवर्तन अधिक होता है। 'मौसी' नामक कहानी में इसका सच्चा स्वरुप दिखाई देता है। ये कुछ ही कहते हैं और बहुत कुछ छोड़ जाते हैं। उनका न कहना ही अधिक वाचाल है-''[३२] दरअसल उनकी अधिकांश वाचालता उपर बताई गई हरकतों में ही व्यक्त हाती है।

भुवनेश्वर की रचना दृष्टि में जो गहरी बेहूदरोकरी और अरागात्मकता है वह शिल्प के स्तर पर भी व्यक्त होती है । उनकी कहानियों की गद्य संरचना और विशेषण विहीन वर्णनात्मकता उनकी भाषा को आज की कहानी की भाषा से जोड़ती है।

उनका कोरा भावुकता विहिन शिल्प कहानी के सूत्र को ऐसी जगह ले जाकर तोड़ता है कि पाठक स्तब्ध रह जाता है। इस युग में कहानी जहाँ से शुरु होती थी

भुवनेश्वर वहाँ पर पंहुचा कर झटके सेकहानी खत्म कर देते हैं। 'एक रात'में प्रेमा का अपने पति के प्रति प्रेम प्रदर्शन और उसका विस्तार भुवनेश्वर के लिए अप्रासंगिक सा है इसलिए वहाँ पंहुच कर ''खैर ये तो कविता है '' के साथ वे कहानी खत्म कर देते हैं । 'मौसी' भी ऐसी ही स्थिति में मृत मौसी के चित्र से आलिंगित शव के संकेत से खत्म होती है, यहाँ से कहानी एक नये स्तर पर खुलती है। 'लड़ाई' 'माँ-बेटे' व 'मास्टरनी' में भी इसी तरह भुवनेश्वर ,कथा सूत्र को झटके के साथ तोड़ देते हैं।

जिन्दगी की, मनुष्य की बेसरोकारी को वे अपनी भाषा में इतना मूर्त कर देते हैं, कि भाषा भी उस बेसरोकारी का पर्याय बन जाती है । 'भेड़िये' कहानी में खारु का वर्णन इसका सटीक उदाहरण है- ''उसका असली नाम शायद इफ्तेखार या ऐसा ही कुछ था, पर उसका लघुकरण 'खारु' बिल्कुल चस्पा होता था । उसके चारो ओर ऐसी ही दुरुह और दुर्भेद्य कठिनता थी । उसकी आंखें ढंडी और जमी हुई थीं और घनी सफेद मूछों के नीचे उसका मुंह इतना ही अमानुषीय और निर्दय था जितना कि चूहेदान'' ।[३३] 'खारु ' की जीवन से बेसरोकारी, रचनाकार की अपने पात्र से बेसरोकारी के स्तर पर व्यक्त होती है । रचनाकार पाठक को यह अहसास पहले ही

पैराग्राफ में करा देता है कि "वह जीवन से निपटारा कर चुका मौत उसे नहीं चाहती वह समय के मुंह पर थूककर जीवित था।"[३४] इसी तरह 'लड़ाई ' कहानी में भुवनेश्वर प्रथम विश्व युद्ध से, एक सोल्जर को मिलने वाले परितोषिक की खीज को स्टूडेंट के माध्यम से इसी भाषा में व्यक्त करवाते हैं - " स्टूडेंट ने जोर से कहा-लेकिन तुम किसलिए लड़े थे, तुम्हे क्या पल्ले पड़ा , चमकीले बटन , मुर्दो के तन से उतारी हुई वर्दियॉ , गर्मी , सूजाक वाली बदचलन नर्से"।[३५] इस संवाद में विश्व युद्ध में भारत के बेवजह शामिल होने की मजबूरी से उत्पन्न खीज स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही है। 'सूर्य पूजा' कहानी में मृत्युबोध और उब से ग्रस्त विलास को म्यूनिसपैलिटी की लालटेन दूर से ऐसी दिखाई देती है - "दूर सामने म्यूनिसपैलिटी की लाल धुंए दार लालटेन जल रही थी, आंख की तरह, चिपकी सूजी हुई आंख, जिसमें सामने की रोशनी से खून की एक बूंद डबडबा उठी है"।[३६] मास्टरनी कहानी में परित्यक्त सी , अकेली लूसी , जिससे स्त्रियां डरती थीं ' और 'मर्द उसको एक मर्दानी अवज्ञा से देखते थे', की लाचारी और असहायता को भुवनेश्वर इन शब्दों में कलमबन्द करते हैं -" मास्टरनी अपने पलंग पर जाकर बैठ गई। उसके दोनों हाथ उसकी पट्टियों को जकड़े थे। आज सारी जिन्दगी के छोटे

बड़े घाव अचानक धसक गये थे। कुछ सोचने की ताव उसमें न थी। सिर्फ एक गुठ्ठल सा दर्द उसके सारे अस्तित्व में लहराने लगा था।''[३७]

कहने का आशय यह कि भुवनेश्वर अपने पात्रों की मनःस्थिति को पूरा पूरा भाषा में उतार देते हैं। जैसी मनःस्थिति वैसे ही शब्द, वैसी ही भाषा। ''सच तो यह है कि भुवनेश्वर की भाषा बहुआयामी है। भाषा के वाध-यन्त्र पर मींड़ मरोड़ या बलाघात देकर हर प्रकार के स्वर व राग निकालने में सक्षम हैं। शब्द अपनी सूक्ष्म अनुगूंजो के साथ वहॉ बज उठता है। भाषा पर यह मास्टरी उनकी एक बहूत बड़ी शक्ति थी।''[३८] हृदयेश की यह बात उपर के उदाहरणों द्वारा और भी पुष्ट होती है। भुवनेश्वर ने भाषा की एक नई जमीन तोड़ी ,नये प्रतीक , उपमान और बिम्ब प्रस्तुत किए। आधुनिक जीवन की जो घुटन और टीस उनके पात्रों में है, वही उनकी भाषा और उपमानों में भी है। परित्यक्त अकेली उदास 'मास्टरनी ' - 'बात को चाकू से काटती है ',' उसका दिल भीगे हुए कम्बल की तरह हर मिनट भारी होता जाता है। ' 'उसके उदास बोसीदा कमरे में रोशनी लालटेन से खून की तरह बहती है।' 'सूर्यपूजा' का मृत्युबोध से ग्रस्त थके हुए विलास को बस्ती 'गोबर की चोथ' लगती है। 'भेड़िए' का अमानवीकृत 'खारु' का निदर्य मुंह 'चूहेदान' सा है। 'लड़ाई ' कहानी में इतने

प्रतीकों का प्रयोग है कि यदि उन्हें हटा दिया जाए तो कहानी का ढांचा ही चरमरा जाए। प्रतीकों और उपमानों की विस्तृत और संश्लिष्ट सघन संवेदना चरित्रों की विडम्बना पूर्ण स्थिति और समय के त्रास को पूरी तरह व्यक्त करती है। भुवनेश्वर इस अर्थ में भी जागरुक हैं। उनका शिल्पी व्यक्तित्व जब किसी पात्र को पकड़ता है तो बहुत बारीकी से उसका निर्वाह करता है, उसकी एक- एक संवेदना को और मनः स्थिति को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर देता है।

हृदयेश ने लिखा है कि भुवनेश्वर ने "अपनी कहानियों में भी कहानी की प्रमुख शर्त 'कथारस' को जिद की हद तक अस्वीकार करते हुए उसे भाषा,शिल्प और विचार जैसे बहुत कुछ रूपगत घटकों द्वारा आकार देने की कोशिश की -- फलस्वरूप भुवनेश्वर की ये कहानियां भी बहुत कुछ अपने पाठकों के लिए बौद्धिक व्यायाम बन गई हैं।"[३९] दर असल किसी भी रचनाकार को पूरी तरह समझने के लिए समानधर्मा होना आवश्यक है। भुवनेश्वर का यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उनका समानधर्मा अभी तक उन्हें नही मिल सका। विपिन कुमार अग्रवाल ने उनके नाटकों को तो समझा पर कहानियां फिर भी छूट गई। हृदयेश का भुवनेश्वर कीकहानियों पर 'बौद्धिक व्यायाम' होने का यह आरोप मुझे एक

घटना की याद दिलाता है -बचपन में ' क्लिष्ट' शब्द का अर्थ बताते हुए मेरे एक अध्यापक ने कहा था-' 'क्लिष्ट' कुछ नहीं होता दरअसल हमारी अज्ञानता ही विषय को क्लिष्ट बनाती है।'

संदर्भ

१. हंसराज रहबर- प्रगतिवाद का पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ १३

२. वही, पृष्ठ ६१

३. प्रेम चन्द- मानसरोवर भाग - एक पृष्ठ ८

४. देवी शंकर अवस्थी- नई कहानी संदर्भ और प्रकृति, मार्कण्डेय का लेख,पृष्ठ ३०

५. भुवनेश्वर प्रसाद- सूर्य पूजा, भुवनेश्वर साहित्य पृष्ठ २३१

६. वही, पृष्ठ २३१

७. हृदयेश- भुवनेश्वर : आने वाले कल का लेखक, हंस , अगस्त ९१ पृष्ठ ३९

८. राजेन्द्र यादव- सम्पादकीय, हंस अगस्त ९१ पृष्ठ ६

९. भुवनेश्वर प्रसाद - मास्टरनी, भुवनेश्वर साहित्य पृष्ठ २२८

१०. वही, पृष्ठ २२८

११. वही, पृष्ठ २२७

१२. वही, पृष्ठ २२९

१३. वही, 'मॉ- बेटे', पृष्ठ २१९

१४. वही, पृष्ठ २१९

१५. हंसराज रहबर- प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन पृष्ठ २१०

१६. भुवनेश्वर प्रसाद- 'मॉ -बेटे', भुवनेश्वर साहित्य पृष्ठ २२०

१७. वही, पृष्ठ २२०

१८. वही, पृष्ठ २२०

१९. वही, 'एक रात', पृष्ठ २३७ - ३६

२०. विपिन कुमार अग्रवाल- सम्पा. कारवां तथा अन्य एकांकी, प्रवेश, पृष्ठ २६

२१. भुवनेश्वर प्रसाद- भुवनेश्वर साहित्य, सूर्यपूजा, पृष्ठ २३०

२२. वही, पृष्ठ २३०

२२. वही, पृष्ठ २३०

२३. वही, पृष्ठ २३१

२४. वही, पृष्ठ २३१

२५. धूमिल- संसद से सड़क तक, पृष्ठ-१५

२६. भुवनेश्वर प्रसाद- भुवनेश्वर साहित्य, 'सूर्यपूजा', पृष्ठ २३२

२७. भुवनेश्वर प्रसाद- भुवनेश्वर साहित्य, 'भेड़िये', पृष्ठ २२३

२८. वही, पृष्ठ २२४

२९. वही, पृष्ठ २२७

३०. नामवर सिंह- कहानी :नई कहानी ,पृष्ठ ३२

३१. चन्द्रमोहन दिनेश्रँ - साहित्य का धूमकेतु भुवनेश्वर, भारत भारद्वाज का लेख, पृष्ठ १११

३२. प्रेमचन्द- हिन्दी की आदर्श कहानियॉ, पृष्ठ २३ - २४

३३. भुवनेश्वर प्रसाद- भुवनेश्वर साहित्य, 'भेड़िये', पृष्ठ २२१

३४. वही, पृष्ठ २२१

३५. भुवनेश्वर प्रसाद - भुवनेश्वर साहित्य, 'लड़ाई', पृष्ठ २१६

३६. वही, 'सूर्यपूजा', पृष्ठ २३२

३७. वही, 'मास्टरनी', पृष्ठ २२९

३८. हृदयेश- भुवनेश्वर : आने वाले कल का लेखक, हंस अगस्त ९१ पृष्ठ - ३८

३९. वही, पृष्ठ ३८

4. आधुनिकता बोधः नई कहानी और भुवनेश्वर प्रसाद की कहानियॉ

आधुनिक चेता व्यक्ति के सन्दर्भ, स्थितियॉ और वास्तविकताएं पहले से बदली हुई थीं। उसकी समस्याएं अधिक सूक्ष्म और जटिल हो गई थीं । सही - गलत की सारी परिभाषाएं उसकी अपनी परिस्थितियों - सन्दर्भो से उत्पन्न होती थीं । जिन बातों व मूल्यों के लिए उसके पूर्ववर्ती सब कुछ हार जाने को तैयार रहते थे वे सब उसके लिए बेमानी हो गये । तर्कशीलता ने पुराने सब कुछ को खारिज कर दिया । इससे उत्पन्न रिक्तता से व्यक्ति की चेतना में 'नये' की तलाश शुरू हुई । बदली हुई परिस्थिति में 'फिर से शुरूआत' की इस प्रकिया ने व्यक्ति की स्थिति को और भी जटिल बना दिया ।

इन बदली हुई परिस्थितियों - सन्दर्भो से जो रचनाशीलता उत्पन्न हुई , वह भी बदली हुई थी , नई थी । यह एक तथ्य है कि रचनाशीलता में यह बदलाव तभी आता है जब रचनाकार रचना के संघर्ष के साथ 'जीने' के संघर्ष से गुजरता है , और इसी संघर्ष को रचनाशीलता के केन्द्र में रखकर सर्जना के नये आयाम तलाशता है । यह तलाश तभी शुरू होती है जब व्यक्ति की संवेदना में कोई बड़ा बदलाव आता है ।

आधुनिक युग में यह बदलाव सन् 1950 ई. के बाद ही रेखांकित किया जा सका जबकि इसका प्रारम्भ इससे पन्द्रह - बीस वर्ष पहले ही हो चुका था। आधुनिक चैतना ने साहित्य को छायावादी भावभूमि से विद्रोह की कठोर भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया था। साहित्य में प्रयोगों की बात शुरू होने लगी थी। इसी समय कहानी में भी बदलाव आया। नये आयामों की तलाश शुरू हुई। आधुनिक चेतना ने कविता के साथ कहानी को भी प्रभावित किया था। कहानी में जीवन को 'तर्क' के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा था। साथ ही जीवन के नये पैटर्न भी बनाए जाने लगे थे। इन रचनाकारों में पहली बार वह कुलबुलाहट दिखई देती है जहॉ पंहुचकर विचार और अनुभव तथा अनुभव और अनुभूति में द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है और कहानी सिर्फ अनुभव से ही नही अनुभूति से भी जुड़ जाती है। यहॉ पंहुच कर कहानी लिखने-पढ़ने या समझने से अधिक 'जीने' की चीज बन जाती है।

आधुनिक दृष्टि के कारण जहॉ एक ओर कहानी के सन्दर्भ विस्तृत हुए, वहीं उसके पीछे की दृष्टि भी सूक्ष्मतर होती गई। जीवन तथा अनुभूति से जुड़ने के कारण कहानी के अन्तरिक रूप में भी बड़ा परिवर्तन आया। कभी मनोरंजक, कुतूहलपूर्ण तथा नाटकीय घटना-संघटन को कथानक माना जाता था लेकिन आधुनिक दृष्टि की सूक्ष्मता और सन्दर्भो के विस्तार के कारण जीवन का कोई भी

लघु प्रसंग मूड या विचार या कोई विशिष्ट व्यक्ति ही कथानक बन गया। इसे नई कहानी के आलोचकों ने ' कथानक का ह्रास ' कहा है।

' कथानक का ह्रास ' या कथानक से मुक्ति हिन्दी कहानी में एक नयापन था। इस नए पन ने कहानी के शिल्प रुप को भी प्रभावित किया। चूंकि सन्दर्भ व परिस्थितियॉ नयी थीं, विचार नये थे इसलिए उन्हें प्रस्तुत करने के नये तरीके भी खोजे गये। आधुनिक बोध को, इस नयेपन को भाषा के स्तर पर पकड़ने का भी अधिकाधिक प्रयास हुआ।

कहानी में इस नये पन की शुरूआत नामवर सिहं के अनुसार 1952 में प्रकाशित निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' से होती है[1] जबकि वस्तुतः इस नयेपन की शुरूआत इससे कही पहले भुवनेश्वर प्रसाद सन 1930 - 40 के बीच अपनी कहानियों में कर चुके थे। 'भेड़ियें ' कहानी को विजय मोहन सिहं[2] ने इसे पहली आधुनिक कहानी और शुकदेव सिहं[3] ने इसे पहली नई कहानी माना है। 'पहले पन' के इस औपचारिक आग्रह से बाहर होकर यदि इस बहस को ठीक से समझा जाए तो सम्भवतः किसी निष्कर्ष पर पंहुचा जा सकता है। इस बहस को ठीक -ठीक समझने के लिए जरूरी है कि इसे शुरू से देखा - परखा जाए।

नई कहानी को स्थापित करने में 'नई कहानियॉ' पत्रिका का बड़ा योगदान है, जिसमें नामवर सिहं ने 'हाशिए पर' स्तम्भ में 'कहानी -पाठ की प्रकिया ' नामक लेखमाला शुरू की।'' इसी लेख माला में ' कहानी नई और अच्छी ' परिसंवाद में पहली बार जम कर परम्परा आदि के बोझ को त्याग कर 'नई कहानी ' के स्वतन्त्र अस्तिव को स्थापित किया जा सका [8]'' इस लेखमाला में नामवर जी ने अपनी समकालीन कहानी को पूर्ववर्ती कहानियों से 'पाठ की प्रकिया ' के आधार पर अलगाया और स्थापित किया। लेकिन पढ़ते वक्त महसूस होता है कि नामवर जी नई कहानी की स्थापना को एक 'साधरण प्रतिज्ञा' सामान कर सब कुछ जो पुराना है उसे नकार कर उसके स्थान पर नई कहानी को स्थापित करते से प्रतीत होते हैं। स्थापना की इस प्रकिया में बहुत कुछ छूट जाता है या साधारण प्रतिज्ञा के कारण अनदेखा कर दिया जाता है। इसी प्रकार की 'साधारण प्रतिज्ञा' निर्मल वर्मा के कहानी सग्रंह की समीक्षा 'परिन्दे - नई कहानी की पहली कृति ' में दिखाई देती है।

वहॉ भी आलोचकीय आग्रह है कि ये कहानियॉ ''निर्मल वर्मा के हाथों जीवन के प्रति एक नया भावबोध जगती हैं ''। यह आलोचकीय आग्रह इतना जबरदस्त है कि आलोचक भूल जाता है कि पहले वह कौन सी स्थापनाऍ कर चुका है।

' कहानी नई कहानी ' में नई कहानी की सफलता और सार्थकता के बारे में निष्कर्ष रूप में वे लिखते है कि "कहानी कार की सार्थकता इस बात में है कि वह अपने युग के मुख्य सामाजिक अन्तर्विरोध के सन्दर्भ में अपनी कहानियों की सामग्री चुनता है ऐतिहासिक विकास के दौरान विरोधी शक्तियों के सघर्ष के फल स्वरूप जीवन के नये - नये क्षेत्र खुलते चलते हैं।"आगे वे लिखते हैं -- " वर्तमान वास्तविकता में मेहनत करने वालों का उभरना और दूसरों की मेहनत पर जीने वालों का दबना ऐतिहासिक तथ्य है"[५] इस आधार पर नामवर जी मध्यवर्गीय जीवन की वास्तविकताओं और ग्राम्य जीवन की वास्तविकताओं पर लिखी कहानियों की तुलना करते हैं और आगे लिखते हैं - " मध्य वर्गीय जीवन को लेकर लिखी आज की शायद ही कोई वास्तविक कहानी ऐसी हो जिसमें जीवन का स्वस्थ सौन्दर्य और मानव की उर्जस्वल शक्ति मिले ।"[६] इसी तर्क से वे 'गदल' मार्कन्डेय की 'गुलरा के बाबा' 'हंसा जाई अकेला ' तथा शिवप्रसाद सिहं की 'कर्मनाशा की हार' को बेहतर कहानियां सिद्ध करते हैं। लेकिन ' परिन्दे 'की समीक्षा करते वक्त वे इस तथ्य को भूल जाते है कि पहले वे मध्यवर्गीय जीवन को लेकर लिखी गई किसी भी वास्तविक कहानी की सम्भावना से इंकार कर

चुके है जिससे ' जीवन के स्वस्थ सौंदर्य और मानव की उर्जस्वल शक्ति मिल सके ' । इस तरह नामवर जी निर्मल वर्मा की ' परिन्दे ' को नई कहानी की पहली कृति के रुप में स्थापित कर देते हैं। श्री राम प्रकाश कुशवाहा ॅ के अनुसार नामवर जी की यह स्थापना अतीत की एक आलोचक भूल-गलती थी । पहली नई कहानी की यह स्थापना असंगत प्रतीत होती है क्योंकि साहित्य कैलेन्डर की तरह तिथियां नहीं बदलता। उसकी एक प्रक्रिया होती है और उसी प्रकिया में साहित्य में परिवर्तन आता है। भारतेन्दु युग का प्रारम्भ लगभग सन 1857 से माना जाता है जबकि रीतिकालीन प्रवृत्तियां उभरने लगी थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी प्रवृत्ति या युग का प्रारम्भ किसी एक रचना या बिन्दु से मान लेना तर्क संगत नही हैं। यह तर्क संगत इसलिए भी प्रतीत नही होता क्योंकि कोई भी कृति चाहे वह किसी भी युग में लिखी गई हो, एक अलग स्वायत्त अस्तित्व रखती है। एक ही समय में कथ्य और विचार,कला और प्रस्तुति के विविध स्तर सामने आ सकते हैं। वह भी एक दूसरे के सन्तानान्तर । इसलिये हर कलाकृति का स्वायत्त रुप से विश्लेषण - विवेचन की परम्परा बनी रहनी चाहिए ।

नामवर जी द्वारा नई कहानी की पहली कृति की स्थापना अभी चल ही रही थी कि वाराणसी के डा० शुकदेव सिंह ने भुवनेश्वर प्रसाद की 'भेड़िये' को नई कहानी की पहली कृति के रुप में स्थापित करने का प्रयास किया। इस स्थापना के लिए उन्होंने नामवर सिंह से भिन्न निकषों का प्रयोग करते हुए 'भेड़िये' को 'संज्ञा के नामिक रुपांतरण की कहानी' बताते हुए ज़िन्दगी की खत्म होती दिलचस्पियों की रफ्तार और मार्मीय संवेदनाओं की निरस्ति की कहानी बताया।[4] नामवर सिंह ने 'परिन्दे' को मानवीय नियति' की कहानी बताया था और उसे 'जीवन की विभिन्न स्थितियों के सन्दर्भ में आज के सबसे बड़े मूल्य मानव मुक्ति' को परिभाषित करने वाली -कहानी कहा था।[5] यह आकस्मिक नहीं है कि 'भेड़िये' को भी 'मानव मुक्ति' की कहानी कहा जा सकता है। लेकिन 'भेड़िये' ही क्यों ? भुवनेश्वर की ही कहानी सूर्यपूजा क्या मानव मुक्ति की समस्या से नही जूझती ? हॉ वहॉ 'हम कहॉ जाएगें' या 'वे सब प्रतीक्षा कर रहे है' जैसे सांकेतिक वाक्य नही है। यहॉ संकेत दूसरे हैं जो अपेक्षकृत अधिक व्यापक हैं।

'हंस' में मई '91 में जब 'भेड़िए' का पुनर्प्रकाशन डा० शुकदेव सिंह की टिप्पणी के साथ हुआ तो सुधी पाठकों व साहित्यिकों मे जबरदस्त खलबली मच गई। अनेक पाठकों ,लेखकों और समीक्षकों ने तरह - तरह की प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं। किसी

ने 'भेड़िये' को 'अंक की सबसे बड़ी कहानी [२०], कहा किसी ने उसे ' पाश्वीकरण के खिलाफ निडर वक्तव्य [२१]बताया तो किसी ने उसे 'किसी विदेशी कहानी का अनुवाद बताया और संपादक महोदय को कुछ विदेशी कहानीकारों के नाम भी सुझाए। लगभग सभी ने एक मत होकर ' भेड़िए की तारीफ की, उसे एक अच्छी' कहानी बताया लेकिन सभी ने शुकदेव सिंह के पहली कहानी के आग्रह को अनुचित ठहराने का प्रयास किया।

'भेड़िए' की मौलिकता के प्रश्न से सम्पादक होने के नाते श्री राजेन्द्र यादव को ही जूझना पड़ा। उन्होंने अंग्रेज लेखक 'जैक लन्दन की सम्पूर्ण रचनावली 'खंगाल ' डाली बीसियों कहानी पढ़ डाली बाकी के पन्नें पलटे' लेकिन उन्ही के शब्दों में ''मगर मुझे कहीं भी कोई स्थिति ऐसी नही मिली जिसे भुवनेश्वर की कहानी भेड़िये से जोड़ सकूं ''[२२] कुल मिलाकर गोगोल , तोल्स्तोय, गोर्की इवान ब्युनिन आदि अनेक विदेशी रचनाकारों को चुन चुन कर पढ़ने के बाद भी यादव जी किसी कहानी से 'भेड़ियें ' का साम्य तक न खोज पाए , अनुवाद तो दूर की बात है '' बहरहाल इस खोजबीन के बावजूद ऐसी किसी कहानी पर उंगली रखना मुश्किल लगता है जिसे ' भेड़िए ' का मॉ या बाप के रूप में तय किया जा

सके''[93] इस शुरूआत के साथ यह बहस 'हंस ' में लगातार पॉच छः अंकों तक चलती रही , आपसी पटाक्षेपों और तर्कहीन विवादों में उलझती रही । पहली कहानी कि यह बहस 'देव बड़े कि बिहारी ' की तर्ज पर चलती रही । साहित्य में दो श्रेष्ठ रचनाओं की तुलना , और एक को श्रेष्ठ सिद्ध करना मेरी दृष्टि से गलत है क्यों कि प्रत्येक रचना का एक स्वायत्त अस्तित्व होता है । उसी के अनुसार उसका मूल्यांकन होना चाहिए । इस बहस में शुकदेव सिंह का पक्ष हल्का रहा । इसका एक कारण यह भी रहा कि उन्होंने 'भेंड़िए' की संवेदना और भावबोध की उतनी बारीक , रेशेवार समीक्षा करने का खतरा नही उठाया जैसा कि नामवर सिंह ने 'परिंदे ' को पहली नई कहानी स्थापित करते समय उठाया था । बहरहाल इससे कोई फर्क नही पड़ता कि पहली 'नई कहानी 'किसे माना जाए लेकिन इस बहस ने भुवनेश्वर को समझने समझाने का एक और मौका साहित्य जगत को दिया । इसी को इस बहस का ' हासिल ' समझना चाहिए । पहली नई कहानी इस बहस में पड़े बगैर और पहली नई कहानी के आग्रह को तर्क संगत न मानते हुए भी मैं यह जोर देकर कहना चाहूंगा कि 'कहानी : नई कहानी 'में नामवर सिंह ने ' नई कहानी के जिन निकषों की बात की है उनपर भुवनेश्वर प्रसाद कि 'भेड़िये ' के

साथ साथ 'सूर्य पूजा ' और ' लड़ाई ' भी खरी उतरती है जो कमशः 1936 ओर 1939 में लिखी गई थीं ।

नामवर सिंह ने 'नई कहानी ' के संदर्भ में लिखा है कि " और अब कहानीकार भी अन्वेषण, प्रयोग, नई संवेदना ,सांकेतिकता , संप्रेषणीयता , जटिलता , दुरुहता , बिम्ब , प्रतीक बगैरह की बात करने लगे हैं ----- अभी तक जो शब्द ' नई कविता ' के लिए बदनाम थे उन्हीं से कहानी भी अलंकृत हो रही है। ---- क्या कहानीकार भी इतने दिनों बाद उन्हीं कठिनाइयों का अनुभव करने लगे हैं , जिनसे नए कवि पिछले पन्द्रह बीस वर्षों से जूझते आ रहे हैं "[98] लेकिन कहीं दबा हुआ कहानीकार भुवनेश्वर भी इन्ही कठिनाइयों से पन्द्रह बीस बरस पहले जूझ चुका है। समस्या केवल यह रही कि नामवर जी से उसका साक्षात्कार किन्हीं कारणवश नहीं हो सका। वह समय की गर्त में दबा रहा एक चिंगारी सा।

भुवनेश्वर प्रसाद की ' भेड़िये 'नामक रुपान्तरण की कहनी हो या ना हो लेकिन वह एक सांकेतिक कहानी अवश्य है। 'भेड़िये ' व्यवस्था के प्रतीक हैं जिन्होंने ' खारु ' की 'मानवीय संवेदना 'को निरस्त कर एक स्तर पर उसे भी भेड़िया बना दिया है जो जीती जागती ' अच्छी लगने वाली ' नटनियों को बेमुरव्वती से भेड़ियों

का चारा बना देता है। खारु के साथ - साथ कहानी कहने की रचनाकार की बेमुरव्वती भी उल्लेखनीय है जिसे नामवर सिंह 'नई कहानी' की एक विशेषता बताते हैं और जिसे वे ' परिन्दे ' के सन्दर्भ में ' अनासक्ति की तटस्थता ' कहते हैं। भुवनेश्वर ' भेड़िए ' की अंतिम पंक्तियों में - " खारु ने मेरे डरे हुए चेहरे की तरफ देखा , जोर से हंसा और फिर खखारकर जमीन पर थूक दिया ---- मैंने दूसरे ही साल उनमें से साठ भेड़िए और मारे "[१७] खारु का यह कथन एक ओर उसकी भावहीनता और बेसरोकारी को उघाड़कर रख देता है , दूसरी ओर यह भी संकेत देता है कि संघर्ष जारी है और जारी रहेगा। भुवनेश्वर की यह आत्मीयता , जो खारु के एक - एक लफ्ज को सच मानती हैं पाठक को अंदर तक हिलाकर (भिगोकर नहीं) खुद निर्वेद रह जाती है। मानो उसके लिए यह एक आम बात है। कहानी की उक्त पंक्तियां जीवनकी उत्कट जिजीविषा की ओर तो इंगित करती ही हैं साथ ही मृत्यु की भयावहता को भी साकार कर देती हैं। इसी प्रकार घोर निराशा और मृत्युबोध से ग्रस्त

' सूर्य पूजा ' का पात्र विलास भी दूर जलती म्यूनिसपैलिटी की लालटेन में नई दुनिया की रोशनी देखता है। यहॉ भी पात्र और रचनाकार की निर्मम दृष्टि बड़ी बेरहमी से जिंदगी की बेकसी और बेबसी को चित्रित करते हैं।

सम्प्रेषणीयता को नामवर सिंह ने ' नई कहानी ' की एक विशेषता माना है। वे लिखते हैं- ''जहॉ तक मुझे मालूम है तथाकथित सम्प्रेषणीयता का सवाल कहानी के सन्दर्भ में पहली बार उढा है। एक समय था जब कहानी केवल कहने - सुनने की चीज़ थी। फिर वह समय आया जब वह लिखने - पढ़ने की अवस्था तक पंहुची। लेकिन आज तो वह समझने - समझाने की स्थिति से गुज़र रही है। 'सम्प्रेषणीयता' की कठिनाई केवल भाषा या साहित्यिक माध्यम की कठिनाई नहीं है बल्कि किसी गहरे सांस्कृतिक संकट का लक्षण है'' [९६]। यह सांस्कृतिक संकट वस्तुतः आधुनिकता से जुड़ा है, उस आधुनिकता से जो जीवन को इतना संघनित और मशीनी बना देती है कि उसमें संवेदना और उसकी अभिव्यक्ति के लिए जगह नहीं बच पाती। 'स्थान' इस कमी के खतरे को नामवर जी के अनुसार नये कहानी कारों ने सम्प्रेषणीयता के सवाल के रुप में उठाया है। ग़ौर तलब है कि इन नये कहानी कारों से काफी पहले 30 - 40 के दशक में भुवनेश्वर प्रसाद भी सम्प्रेषणीयता की इस समस्या से दो-चार हो रहे थे। उनकी कहानी 'लड़ाई' इसी

समस्या से जूझती है ओर दो ही पृष्ठों में सैकड़ों संकेत देकर चुप हो जाती है। सन् 1936 की यह कहानी तत्कालीन राजनीतिक निष्क्रियता, द्वितीय विश्व युद्ध की सम्भावना, प्रथम विश्वयुद्ध का जहरीला अनुभव, गांधीवाद की अप्रासंगिकता आदि अनेक तथ्यों को संकेतों सें ही स्पष्ट कर देती है और वाग्जाल के बिना कथारस , घटना जैसे 'मनोरंजक' कहानी तत्वों का उपयोग किये बिना ही सम्पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करते हुए पाठक को स्तब्ध कर देती है । यहॉ भी ध्यान देने योग्य है कि कहानी की कहानीपन से मुक्ति की बात सन् 1950 ई.के बाद ही उठी ।

भाषा की दृष्टि से भी भुवनेश्वर प्रसाद नये कहानी कारों के नज़दीक पड़ते हैं । उनकी कहानियों में वाक्य छोटे, कठोर, चुस्त, पैने तथा सजीव हैं। किसी अलंकरण या आवरण का प्रयोग उनके यहॉ नहीं है। 'नई वास्तविकताओं' के अनुरुप ही वे भाषा का प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा सहज प्रवाह से बहती चलती है लेकिन भावों का कोई भी रेशा छूटने नहीं पाता । संकेतों और प्रतीकों का प्रयोग सम्प्रेषणीयता की समस्या से निपटने के लिये किया गया है लेकिन ये संकेत और प्रतीक इतने स्पष्ट और पैने हैं कि भाव स्वतः मूर्त हो उठता है तथापि कथ्य की जटिलता बनी रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं हिन्दी कहानी आलोचना में आग्रही आलोचना के कारण एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना कार विवेचित होने से छूट गया था। यह सही है कि जिस समय भुवनेश्वर प्रसाद लिख रहे थे उस समय कहानी आलोचना उस स्तर पर नही पंहुच पाई थी जहॉ वह सन् 1950 के बाद पंहुची । लेकिन साथ ही यह दुर्भाग्य है कि जब आलोचना उस शिखर पर पंहुच गई तब भी उनका 'नोटिस' नहीं लिया गया। सन् 1936 में अपनी मृत्यु से पहले तक कथाकार प्रेमचन्द उनकी कहानियों को तरजीह देते रहे।

भुवनेश्वर ने 'नई कहानी' की शुरुआत की , ऐसी किसी स्थापना का समर्थन मैं नहीं करता लेकिन यह सही है कि उनकी कहानियों में सन् 1950 के बाद की 'नई कहानी' की मूल प्रवृत्तियों के बीज मौजूद हैं। हो सकता है कि खोजने पर हिन्दी कहानी में यह एक समानान्तर परम्परा के रुप में मिले जिसका चरम बिन्दु 'नई कहानी' बना।

सन्दर्भ

१. नामवर सिंह, कहानीः नई कहानी पृष्ठ - ५२

२. राजेन्द्र यादव, सम्पादकीय - 'हंस', जुलाई ९१, पृष्ठ - ६

३. शुक देव सिंह , नई कहानी की पहली कृति 'भेड़िये', 'हंस', मई ९१, पृष्ठ - १४

४. देवी शंकर अवस्थी, नई कहानी, सन्दर्भ और प्रकृति भूमिका, पृष्ठ - १६

५. नामवर सिंह, कहानीः नई कहानी, पृष्ठ - २८-२९

६. वही, पृष्ठ - ३०

७. राम प्रकाश कुशवाह, नई कहानी वाद और आग्रही आलोचना, 'हंस' अगस्त ९१, पृष्ठ - ७१

८. शुक देव सिंह , नई कहानी की पहली कृति 'भेड़िये', 'हंस', मई ९१, पृष्ठ -१४

९. नामवर सिंह, कहानीः नई कहानी, पृष्ठ - ५२

१०. रघुनन्दन त्रिवेदी, 'हंस', जुलाई ९१ , पृष्ठ - १०

११. अर्चना वर्मा , 'हंस', अगस्त ९१, पृष्ठ -६८

१२. राजेन्द्र यादव, 'हंस', जुलाई ९१ , पृष्ठ - ६

१३. वही

१४. नामवर सिंह, कहानी: नई कहानी, पृष्ठ - ३१

१५. भुवनेश्वर, भुवनेश्वर साहित्य, पृष्ठ - २२७

१६. नामवर सिंह, कहानी: नई कहानी, पृष्ठ - 39

उपसंहार

विश्व में औद्योगीकरण, पूंजीवादी व्यवस्था के प्रसार , अस्तत्ववादी दर्शन के प्रभाव और दो दो विश्व युद्धों के कारण ही आधुनिकता का जन्म हुआ । इन परिस्थितियों में एक गम्भीर मानवीय संकट उभर कर सामने आया । व्यक्ति अपनी अस्मिता तलाशने लगा, समाज से उसका सम्बन्ध कटने लगा, मानवीय सम्बन्ध बेमानी हो गये । पुरानी परम्पराओं, मूल्यों को वह नकारने लगा । नैतिकता और पवित्रता का अवमूल्यन हुआ । मनुष्य के पदार्थीकरण,विसंगतिबोध और ऊब ने अजनबी पन को बढ़ाया । जीवन की भयावहता और अर्थहीनता को देखकर जीवन के प्रति वितृष्णा का भाव उत्पन्न हुआ ।

इस सबका साहित्य पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था । विश्व साहित्य में पिकासो के चित्र, लॉरेंस, जे. ज्वायस आदि के उपन्यास इलियट की कविताएं, बेकेट के असंगत नाटक आदि कृतियॉ इसी आधुनिकता बोध को प्रतिबिम्बित करती हैं । भारत में आधुनिकता बोध को व्यापक स्तर पर काफी देर से समझा -परखा गया । इसका एक कारण भारतीय मेधा का स्वतन्त्रता संग्राम में व्यस्त होना माना जा सकता है । फिर भी कुछ रचनाकार विश्व परिदृश्स से गहरे प्रभवित हो रहे थे । भुवनेश्वर प्रसाद ऐसे ही एक रचनाकार थे जो अपनी संवेदना को विश्व की

संवेदना से जोड़ रहे थे , बदलते मूल्यों की इस उथल -पुथल से अपनी दृष्टि जोड़ रहे थे । हालॉकि हिन्दी कहानीकारों में , जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय भी इस संवेदना से अपनी रचनाशीलता को जोड़ रहे थे तथापि ये सभी अपनी -अपनी वैचारिक दृष्टि से बंधकर ही चीजों को देख-समझ रहे थे जब कि भुवनेश्वर ने अपने आप को प्रत्येक वैचारिक बंधन से मुक्त रखा और निरपेक्ष दृष्टा की भंति चीजों को देखा -परखा । इसी कारण आधुनिकता बोध की घनी संवेदना उनके यहॉ मिलती है जो अज्ञेय, जैनेंद्र या यशपाल के यहॉ कम है।

भुवनेश्वर की यह रचना दृष्टि उनके अपने जीवन से प्रसूत है । जिस तरह का 'वेगाबॉन्ड' जीवन उन्होंने जिया, जिस तरह के अभावों में वे मरे उसमें जीवन के बेतुकेपन और विसंगतियों को काफी करीब से, स्पर्श की हद तक करीब से देखा जा सकता है। उन्होंने अपनी मेधा के बल पर एक 'इन्टेलेक्चुउल हौवा 'खड़ा किया । बलवती परिस्थितियों में घिर कर झूठ बोला, कुछ लोगों के अनुसार चोरी भी की । लेकिन पकड़े जाने पर अपराधी प्ली भी किया । कुल मिलाकर अपने इर्द -गिर्द उन्होंने एक बड़ा 'मिथिकल बवंडर' खड़ा कर लिया था जिसमें घुसने की किसी की हिम्मत नहीं थी । अंततः इसी बंवडर में घिरे एक दिन इस दुनिया से कूच कर गये।

आलाचकों ने उन्हें समझा नहीं, स्थापित लेखकों ,रचनाकारों के लिए वे प्रतिपक्ष बन गये, जिन प्रेमचन्द और शुक्ल जी ने उन्हें समझा था , वे रहे नहीं । प्रतिकूल परिस्थितियों में लगातार घिरते हुए वे समाप्त हो गये । उनकी मृत्यु के बारे में जितेन्द्र ने अपनी कहानी 'नन्द के लाल' में लिखा है -''अगर यह आलोचक नंद के लाल हिन्दी के विभागाध्यक्ष न होते तो काशी के घाट पर बोरा लपेटे ठंड से सिकुड़ कर हिन्दी का 'इब्सन' भुवनेश्वर मरता क्यों !''

भुवनेश्वर ने कम लिखा है या कहा जाय परिस्थितवश कम लिख पाए । यह भी हो सकता है कि जितना प्राप्त है उससे कहीं अधिक लिखा हो जो अभी तक खोजा नहीं जा सका । जो भी हो, जितना भी प्राप्त है कम महवपूर्ण नहीं है। -पन्द्रह एकांकी, आठ कहानियॉ और कुछ कविताएं ।

भुवनेश्वर की कहानियॉ आधुनिक संवेदना की प्रारम्भिक दस्तावेज है। मानवीय सम्बन्धों की बारीकी, यथार्थ की सूक्ष्मतर पकड़, परिस्थितिजन्य अमानवीयता, मनोवैज्ञानिकता , सम्बन्धों की अरागात्मकता और समयबोध अत्यन्त तीखे रुप में उनकी कहानियों में मिलते हैं और इस सबको उतनी ही बारीकी से समेटने वाला उनका शिल्प और भाषा । हर दृष्टि से उनकी कहानियॉ उनकी आधुनिक रचना दृष्टि का परिचय देती हैं ।

आलोचकों ने कहानी में 'कथारस' के ह्रास , कथा रस कि विलुप्ति , सांकेतिकता और नये संदर्भों को भले ही सन् 1950 के बाद चीन्हा हो लेकिन ये सब भुवनेश्वर की कहानियों में 1930 -40 के बीच ही आ गया था । उनकी कहानी 'भेड़िये ' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है जो इतनी आकस्मिक है कि अनेक आलोचकों - रचनाकारों ने इसे ' उड़ाई गई ' या ' किसी अच्छी विदेशी कहानी का अनुवाद बताया, जो अभी तक सिद्ध नहीं हो सका है। इस कहानी को लेकर 'नई कहानी' की बहस कई बार हो चुकी है।

उनकी कहानी ' भेड़िये' को नई कहा जाय या न कहा जाय यह अलग बहस हो सकती है लेकिन नई कहानी आलोचकों ने अन्य कहानियों के आधार पर नई कहानी के जो प्रतिमान बताए हैं वे उनकी कहानी 'भेड़िए' ही नही वरन 'लड़ाई और 'सूर्यपूजा'में भी अंशतः मौजूद हैं। अस्तु !

पुस्तकानुकमणिका

आधार ग्रंथ

१. रा. स. बेदार , राजकुमार शर्मा, सम्पा. - भुवनेश्वर साहित्य, भु. प्र. शोध संस्थान, शाहजहांपुर, 1992

२. राजकुमार शर्मा, सम्पा.- भुवनेश्वरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनउ 1992

३. रमेश बक्षी सम्पा.- भुवनेश्वरः चुनी हुई रचनाएं, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली 1992

४. विपिन कुमार अग्रवाल, आधुनिकता के पहलू , लोक भारती, इलाहाबाद 1972

संदर्भ ग्रंथ

१. इन्द्रनाथ मदान - आधुनिकता और सर्जनात्मक साहित्य, राधा कृष्ण, दिल्ली, 1978

२. इन्द्रनाथ मदान - हिन्दी कहानी : पहचान और परख

३. कमल किशोर गोयनका- प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य ,

४. चन्द्र मोहन दिनेश - भुवनेश्वर : साहित्य का धूमकेतु , संदर्श प्रकाशन ,शाह जहॉ पुर , 1991

५. देवी शंकर अवस्थी(सं.)- नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति , राजकमल , दिल्ली, 1993

६. नामवर सिंह - कहानी : नई कहानी , लोक भारती, इलाहाबाद 1994

७. धनंजय - आज की हिन्दी कहानी , अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद , 1969

८. प्रेमचन्द - हिन्दी की आदर्श कहानियॉ , सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद

९. प्रेमचन्द - मानसरोवर - १, राजकमल , दिल्ली , 1998

१०. बच्चन सिंह - आलोचना के बीज शब्द, राधा कृष्ण 1983

११. बटरोही - कहानी : रचना प्रकिया और स्वरूप , अक्षर प्रकाशन , नई दिल्ली , 1973

१२. योगेन्द्र शाही - अस्तित्ववाद - किर्केगार्द से कामू तक , मैकमिलन, दिल्ली 1978

१३. रमेश बक्षी, सं. - भुवनेश्वर : चुनी हुई रचनायें , इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली , 1992

१४. रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारणी सभा, वराणसी, 1992

१५. राम विलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - १, राजकमल, नई दिल्ली

१६. राम विलास शर्मा - पंचरत्न , राजपाल एण्ड सन्स , दिल्ली

१७. लक्ष्मी नारायण लाल - आधुनिक हिन्दी कहानी, वाणी प्रकाशन , दिल्ली, 1989

१८. विपिन कुमार अग्रवाल- कारवॉ तथा अन्य एकांकी , लोक भारती, इलाहाबाद 1994

१९. शमशेर बहादुर सिंह - कुछ कविताएं कुछ और कविताएं , राधाकृष्ण नई दिल्ली, 1984

२०. साधना शाह - नई कहानी और आधुनिकता बोध , पुस्तक संस्थान, कानपुर , 1978

२१. हंसराज रहबर - प्रगतिवाद पुनर्मूल्यांकन

अंग्रेजी-ग्रंथः

1. C. G. Jung - *Modern Man In Search Of Soul*

2. Stuart Hall - *Modernity And Its Future*

3. Raymond Williams - *Key Words*, Fontana Press, 1988

पत्र पत्रिकाएंः

१. 'आलोचना' - जनवरी - मार्च 70

२. हंस मार्च 89

३. हंस मई 91

४. हंस जुलाई 91

५. हंस अगस्त 91

६. हंस सितम्बर 91

७. हंस अक्टूबर 91

८.	हंस	नवम्बर 91
९.	दिनमान	25 मई '75
१०.	नई धारा	1965 - 1966